अथ

खण्डचतुष्टयात्मक "श्राद्धविज्ञान"-ग्रन्थान्तर्गत

"पितर"स्वरूपविज्ञानोपनिषत्

द्वितीय काण्ड

२

व्याख्याता एवं भाष्यकार

पं० मोतीलालशर्म्मा-वेदवीथीपथिक

आङ्गिरसो भारद्वाज

भूमिका

मेरी रुचि का आधार 'वेद विज्ञान' स्वर्गीय पण्डित **मोतीलालजी शास्त्री** के लिखे हुए हिन्दी ग्रन्थ ही हैं। इन ग्रन्थों का खण्ड-खण्ड पारायण करते-करते वैदिक शब्दों के अर्थ समझ में आने लगे और यह अनुभूति हुई कि सर्वसाधारण में इनका प्रचार हो। स्वर्गीय पण्डित श्री **मोतीलाल जी शास्त्री** ने अपनी ५१ वर्ष की अल्पायु में लगभग अस्सी हजार पृष्ठ लिख डाले जिनमें केवल दस हजार पृष्ठ ही अब तक प्रकाशित हैं। उन्हें तो स्वयं श्री शास्त्री जी ही अपने जीवन-काल में प्रकाशित कर गए। इसके बाद इस विशाल वैदिक वाङ्मय का कोई उपयोग ही नहीं हुआ।

पिछले एक वर्ष में मैंने राजस्थान पत्रिका में विज्ञान-वार्ता के नाम से एक साप्ताहिक स्तम्भ लिखना चालू रखा। मैंने पाठकों के मानस पर इस स्तम्भ का गहन प्रभाव देखा और अनुभव किया कि यह वैदिक कार्य अधिकाधिक प्रकाश में लाया जाए। मैंने राजस्थान पत्रिका के प्रबन्धक मण्डल के सामने प्रस्ताव किया कि हिन्दी में लिखित श्री शास्त्री जी के ग्रन्थों का एक-एक करके प्रकाशन किया जाए। मुझे यह कहते हुए सर्वत्र प्रसन्नता है कि प्रबन्धकमण्डल ने बड़े उत्साहकवर्द्धक भाव से प्रस्ताव को स्वीकृति प्रदान की। स्वर्गीय पण्डित श्री मोतीलाल जी शास्त्री के ज्येष्ठ पुत्र श्री **कृष्णचन्द्र शर्म्मा** ने सहर्ष सहयोग का हाथ बढ़ाया और प्रकाशन का काम चालू हो गया।

श्री शास्त्री जी ने अपने गुरु, समीक्षा-चक्रवर्ती पण्डित **मधुसूदन जी ओझा** की वैज्ञानिक शैली पर चार खण्डों में श्राद्धविज्ञान का प्रणयन किया था। प्रथम और तृतीय खण्ड का प्रकाशन तो वे स्वयं कर गए थे। द्वितीय एवं चतुर्थ खण्ड अप्रकाशित रह गए। श्री **कृष्णचन्द्र शर्म्मा** के साथ परामर्श करके हमने शेष दो खण्डों का प्रकाशन निश्चय किया, जिसका प्रमाण प्रस्तुत ग्रन्थ के रूप में जैविकविज्ञान की यह श्रेष्ठ रचना है जो पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है।

यह संयोग की ही बात है कि इस ग्रन्थ का प्रकाशन भी इसके यशस्वी लेखक पण्डिल **मोतीलाल जी शास्त्री** की पुण्य तिथि २० सितम्बर, १९८६ के साथ ही हुआ है। मैं आशा करता हूँ कि पाठक इससे अवश्य ही लाभान्वित होंगे। हमारी चेष्टा होगी कि शनैः शनैः श्री शास्त्री जी के शेष ग्रन्थ भी प्रकाश में आयेंगे। श्राद्धविज्ञान का चतुर्थ खण्ड प्रेस में दिया जा चुका है। इस गुरुतर कार्य को सम्पन्न करने में डा० **मदनगोपाल शर्म्मा** ने उल्लेखनीय योगदान किया है जिसके लिए वे साधुवाद के पात्र हैं डा० श्रीमती **उर्मिला शर्म्मा** ने ग्रन्थ के सम्पादन में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। शास्त्री जी के सुपौत्र श्री **प्रद्युम्नकुमार शर्म्मा** की देख-रेख में प्रकाशन का कार्य सुचारू रूप से हो सका। मैं उनके प्रति कृतज्ञता प्रगट करना चाहूँगा।

—कर्पूरचन्द 'कुलिश'

।। श्री ।।

समर्पण

दिवंगत–चन्द्रलोकस्थ–महानात्ममूर्त्ति–स्वर्गीय–

पितुःश्री वेदवाचस्पति पं० मोतीलालजी शास्त्री

[निधन-तिथि आश्विन अमावस्या, सम्वत् २०१७]

की २६वीं पुण्य तिथि के अवसर पर

श्राद्धकर्त्ता की ओर से श्रद्धापूर्वक

समर्पित

—कृष्णचन्द्र शर्मा (श्राद्धकर्त्ता)

मुद्रक:—
प्रद्युम्नकुमार शर्मा
श्री बालचन्द्र यन्त्रालय,
"मानवाश्रम", टोंक रोड,
जयपुर-302015

पूज्यपाद वेदवाचस्पति

पं. मोतीलालजी शास्त्री

[सन् 1908—1960]

अथ

खण्ड चतुष्टयात्मक "श्राद्धविज्ञान" ग्रन्थान्तर्गत 'पितरस्वरूपविज्ञानोपनिषत्' नामक द्वितीय खण्ड की संक्षिप्त

विषयसूची

३—दिव्यपितरविज्ञानोपनिषत्—तृतीया १२३–१३०

## ४—ऋतुपितरविज्ञानोपनिषत्—चतुर्थी		१३१–१४९

## ५—प्रेतपितरविज्ञानोपनिषत्—पञ्चमी		१५१–१६८

श्राद्धविज्ञानम्

"पितर" स्वरूपविज्ञानोपनिषत्

द्वितीय काण्ड

२

य: शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।।१।।
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्म कर्त्तुमिहार्हसि ।।२।।

—गीता १६ अ० । २३,—२४ श्लोक ।

अथ

"पितर"स्वरूपविज्ञानोपनिषदि

'प्रमाणोपनिषत्'

प्रथमा

[१]

वेदोऽखिलो धर्म्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ।।१।।
यः कश्चित् कस्यचिद्धर्म्मो मनुना परिकीर्त्तितः ।।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ।।२।।
सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा ।।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्म्मे निविशेत वै ।।३।।
श्रुतिस्मृत्युदितं धर्म्ममनुतिष्ठन् हि मानवः ।।
इह कीर्त्तिमवाप्नोति प्रेत्यचानुत्तमं सुखम् ।।४।।
श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्म्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ।।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्म्मो हि निर्बभौ ।।५।।
योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः ।।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ।।६।।

(मनुः २ अ० । ६–११ श्लोक ।)

आर्षप्रजा की शास्त्रनिष्ठा—

अनन्त काल से झञ्झावात के प्रबल झोंकों को सहती हुई आर्यजाति किस बल के आधार पर आज तक स्थिर रह सकी ? कराल काल के कुटिल भ्रू विक्षेपों का उपहास करती हुई—आर्यसभ्यता, आर्यसंस्कृति किस महाशक्ति के आधार पर आज तक अपना स्वरूप सुरक्षित रख सकी ? जहाँ का मौलिक साहित्य सरस्वती के अन्यतम शत्रु, कला के निकृष्टतम घातक नरराक्षसों के हम्मामों को गरम रखने के लिए महीनों तक ईंधन के काम में आता हुआ भी किस अमृत-सञ्जीवनी से आज तक जीवित दशा में हमें उपलब्ध हो रहा है ? इत्यादि उद्वेगकर प्रश्नों के उत्तर हैं—**शास्त्रनिष्ठा ! आप्त वचन पर पूर्ण विश्वास !! ऋषियों की वाणी पर अनन्य श्रद्धा !!!**

'प्रमाण' शब्दमीमांसा—

युक्ति एवं तर्कवाद उसी सीमा तक उपयोगी बना रहता है, जहाँ तक कि प्रत्यक्षवाद का सम्बन्ध है। प्रत्यक्षातीत विषयों में अशास्त्रीय—निरर्थक शुष्क तर्कवाद कथमपि सफल नहीं हो सकता—**'तर्काप्रतिष्ठानात्'** । परोक्षतत्त्वों के सत्यासत्य का निर्णय परोक्षद्रष्टा महर्षियों के वचन पर ही अवलम्बित है। उन्होंने अपनी आर्यदृष्टि से जिन तत्त्वों का साक्षात्कार किया है, उन तत्त्वों को शब्द द्वारा हमारे कान में पहुँचाने वाला शास्त्र ही वेदशास्त्र है। यही हमारी विषय-सिद्धि के लिए इतरप्रमाणानपेक्ष स्वतःप्रमाण है। जिस तत्त्व के आधार पर हमारा आत्मा लक्षीभूत विषय की सत्यता का कारण बन जाता है, दूसरे शब्दों में जो तत्त्व प्रमेय (विषय) सम्बन्धिनी **प्रमा** (ज्ञान) का जनक बन जाता है, विषय-सिद्धि का हेतु बन जाता है, वही तत्त्व विशेष—**"प्रमाजनकं प्रमाणम्"** इस निर्वचन के अनुसार **'प्रमाण'** नाम से व्यवहृत होता है। यह 'प्रमाण' तत्त्व **प्रत्यक्ष**(१) **अनुमान**(२) **उपमान**(३) **शब्द**(४)—भेद से प्रधानतया चार भागों में (दर्शन मतानुसार) विभक्त माना गया है। इन चारों प्रमाणों में प्रत्यक्ष प्रमाण ही इतर तीनों प्रमाणों का मूलाधार है। विज्ञान-परिभाषा के अनुसार इन चारों प्रमाणों का **प्रत्यक्ष-अनुमान,** इन दो प्रमाणों में ही अन्तर्भाव है। दृष्टि-प्रमाण को प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाता है, एवं युक्ति प्रमाण को अनुमान प्रमाण कहा जाता है। यह दृष्टि एवं युक्ति, दोनों ही शब्द-अशब्द भेद से दो भागों में विभक्त हैं। फलतः दो के चार प्रमाण हो जाते हैं। चर्म्मचक्षुओं (आँखों) से जो देखा जाता है, वह **"अशाब्दीदृष्टि"** है, एवं बिना किसी प्रमाण को आधार बनाए प्रयुक्त होने वाला विशुद्ध तर्कवाद **'अशाब्दीयुक्ति'** है। चक्षुर्दृष्टिमूला अशाब्दी दृष्टि ही **'प्रत्यक्ष-प्रमाण'** है, एवं विशुद्ध तर्कमूला अशाब्दी युक्ति ही **'अनुमान-प्रमाण'** है। यथाजात साधारण मनुष्यों के लौकिक व्यवहार प्रायः इन्हीं दोनों प्रमाणों पर अवलम्बित हैं। दूसरे शब्दों में लौकिक मनुष्य प्रत्यक्ष शब्द से आँखों देखे का, एवं अनुमान शब्द से तर्कवाद का ही ग्रहण किया करते हैं।

शाब्दी-दृष्टि, युक्ति—

विज्ञान दृष्टि से जो देखा जाता है, वह **'शाब्दीदृष्टि'** है, एवं शाब्दी दृष्टि का अनुगमन करने वाला तर्कवाद **'शाब्दीयुक्ति'** है। दूसरे शब्दों में इन्हें **'शास्त्रीय-दृष्टि'**—एवं **'शास्त्रीय-युक्ति'** इन नामों से भी व्यवहृत किया जा सकता है शास्त्रीय दृष्टि **'प्रत्यक्ष-प्रमाण'** है, एवं शास्त्रीय युक्ति **'अनुमान-प्रमाण'** है। प्रत्यक्ष प्रमाण का दृष्टार्थ से सम्बन्ध है, एवं अनुमान प्रमाण का श्रुतार्थ से सम्बन्ध

है। किसी भी विषय को देख कर कहना दृष्टि है, एवं किसी विषय को सुन कर कहना श्रुति। दृष्टि को श्रुति कहा जाता है, एवं श्रुति को स्मृति कहा जाता है।

तात्पर्य्य यह है कि, जिन अलौकिक इन्द्रियातीत विषयों का हम अपने चर्म्मचक्षुओं से प्रत्यक्ष करने में सर्वथा असमर्थ रहते हैं, तपः प्रभाव से विशुद्धान्तःकरणमना महर्षिगण उसी परोक्ष अर्थ का अपनी विज्ञान दृष्टि से साक्षात्कार कर लेते हैं। यही विज्ञानदृष्टि **"दिव्यदृष्टि" दिव्यचक्षु" "योगप्रत्यक्ष" "आर्षदृष्टि" "आर्षचक्षु"** इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध हुई है। इसी दृष्टि का निरूपण करते हुए अभियुक्त कहते हैं—

अनागतमतीतञ्च वर्त्तमानमतीन्द्रियम् ।।
विप्रकृष्टं व्यवहितं सम्यक् पश्यन्ति योगिनः ।।१।।
आविर्भूतप्रकाशानामनभिप्लुतचेतसाम् ।।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते ।।२।।
अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा ।।
ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते ।।२।।

स्वतः–परतः–प्रमाण्यवाद—

जो तत्त्व जैसा है, उसे वैसा ही समझना **'सत्यभाव'** है, विपरीत समझना **'असत्यभाव'** है। दूसरे शब्दों में जिसकी सत्ता हो, उसी की भाति (ज्ञान) होना सत्य है, यही **"प्रमा"** ज्ञान है। सत्यज्ञान को ही **'प्रमाज्ञान'** कहा जाता है। सत्ता किसी अन्य की है, ज्ञान अन्य किसी का हो रहा है, यह अस्ति-भाति का पार्थक्य असत्यज्ञान है। **"यथास्ति-तथा प्रतिपत्तिः"** ही प्रमा है। जिसके आधार पर "सत्य-लक्षण" इस प्रमाज्ञान का उदय होता है, वही प्रमाजनक बनता हुआ **'प्रमाण'** कहलाया है। इस वैज्ञानिक लक्षण के अनुसार प्रथमतः **प्रत्यक्ष-शब्द-अनुमान** ये तीन प्रमाण हो जाते हैं। इन तीनों में अनुमान और शब्दप्रमाण प्रत्यक्षप्रमाण को मूल में रख कर प्रमाण बनते हैं, अतः इन दोनों को हम **'परतः प्रमाण'** मानने के लिए तय्यार हैं। इतर प्रत्यक्षप्रमाण किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा न रखता हुआ **'स्वतः-प्रमाण'** नाम से प्रसिद्ध है।

चक्षुरिन्द्रिय में प्रकृति ने सत्य सत्त्व प्रतिष्ठित किया है। कारण इसका यही है कि चक्षुरिन्द्रिय का (साथ ही **'विज्ञानचक्षु'** नाम से प्रसिद्ध बुद्धि का भी) निर्माण सत्यभावापन्न* सूर्य्य से हुआ है। एवं प्रत्यक्ष का सम्बन्ध चक्षु से ही है। अतएव चक्षुषा दृष्ट प्रत्यक्ष तत्त्व को हम अवश्य ही सर्वथा **'सत्य'**

---

*"तद्यैतत्-सत्यं, असौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः"।—शतपथ ब्रा० १४।८।३।

कहने के लिए तैय्यार हैं। यही कारण है कि यदि हमारे समीप किसी विषय की सूचना देते हुए दो मनुष्य आकर पृथक् पृथक् रूप से—"**मैंने ऐसा देखा है, मैंने ऐसा सुना है**" यह कहते हैं, तो जो मनुष्य "**मैंने ऐसा देखा है**" यह कहता है, उसी पर हमारा विश्वास होता है। फलतः चक्षु का सत्यत्त्व सिद्ध हो जाता है। इसी सत्यभाव का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है—

***(१)—"सत्यं दीक्षा। तस्माद्दीक्षितेन सत्यमेव वदितव्यम्। अथो खल्वाहुः—कोऽर्हति मनुष्यः सर्वं सत्यं वदितुम्। सत्यसंहिता वै देवाः, अनृत-संहिता वै मनुष्याः। विचक्षणवतीं वाचं वदेत्। चक्षुर्वै विचक्षणम्। वि ह्येनेन पश्यति। एतद्ध वै मनुष्येषु सत्यं निहितं—यच्चक्षुः। तस्मादाचक्षाणमाहुः—अद्राक् इति। स यदि—'अदर्शम्' इत्याह, अथास्य श्रद्दधति। यद्यु स्वयं पश्यति (तदा) न बहूनां चनान्येषां श्रद्दधाति"—ऐतरेय ब्रा० २।१।६**

(२)—"सत्यं वै चक्षुः। सत्यं हि वै चक्षुः—तस्माद्यदिदानीं द्वौ विवद-मानावेयातां—'अहमदर्शम्,—अहमश्रौषम्' इति, य एव ब्रूयात्—'अहमदर्शम्' इति, तस्मा (तस्मै) एव श्रद्दध्याम"।—शतपथ ब्रा० १।३।१।२७

---

*(१)—"सत्य दीक्षा है। इसलिए (यज्ञ में) दीक्षित (यजमान) से सत्य ही प्रयुक्त होना चाहिए (दीक्षित को 'दीक्षा' की रक्षा के लिए सत्यभाषण ही करना चाहिए)। इस सम्बन्ध में वैज्ञानिक कहते हैं (प्रश्न करते हैं) कि—'कौन मनुष्य सर्वात्मना सत्य बोल सकता है (अर्थात् मनुष्य जब सत्य-भाषण में असमर्थ है, तो इसे यह असम्भव आदेश किस आधार पर दिया गया?)। देवता ही निश्चयेन सत्यसंहित (सत्यमर्य्यादा से मर्य्यादित) हैं, (उधर) मनुष्य (तो) असत्यसंहित है (ऐसी दशा में उक्त आदेश का क्या अर्थ है? प्रश्न का समाधान करती हुई श्रुति कहती है, वह दीक्षित यजमान) विचक्षणवती (आँखों देखी) वाणी बोले चक्षुरिन्द्रिय ही विचक्षण है। इसी (चक्षु) से मनुष्य देखता है। मानव में (प्रकृति की ओर से) यही वह सत्य प्रतिष्ठित हुआ है, जो कि चक्षु है। इसीलिए आँखों देखी बात कहने वाले मानव के प्रति यह कहा जाता है कि—अमुक ने वास्तव में ठीक कहा है।' (यह नियम है कि किसी विषय का प्रतिपादन करने वाला मानव) यदि यह कहता है कि 'मैंने देख लिया है' (देख कर ऐसा कह रहा हूँ) तो इस मानव पर लोग विश्वास कर लेते हैं। यदि कोई मानव स्वयं अमुक विषय का साक्षात्कार कर लेता है तो (अपने इस प्रत्यक्ष ज्ञान की तुलना में) यह अन्य अनेक मानवों के (स्वदृष्ट से विरुद्ध) सुने हुए विषय पर विश्वास नहीं करता।"

(२)—"सत्य निश्चयेन चक्षु है। सत्य निश्चय ही तो चक्षु है। यही कारण है कि, 'मैंने ऐसा देखा है' 'मैंने ऐसा सुना है' इस प्रकार परस्पर विवाद करते हुए उपस्थित मानवों में से जो मानव—'मैंने ऐसा देखा है' कहता है, उसी पर हम विश्वास करते हैं।"

प्रत्यक्ष—प्रमाणरूपा यह दृष्टि चर्म्म–विज्ञान भेद से दो भागों में विभक्त है। चर्म्मचक्षु सर्व-साधारण है, विज्ञानचक्षु योगसाध्या होने से योगज है। यह दृष्टि तपस्वी महर्षियों में तपःप्रभाव से उदित होती है, अतएव इसे **"आर्षदृष्टि"** कहते हैं, जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है। साधा-

प्रत्यक्षप्रमाण के दो विवर्त्त—

रण लौकिक विषयों के सम्बन्ध में चर्म्मचक्षुः—सम्बन्धी प्रत्यक्षप्रमाण का अधिक महत्त्व है। जो मूढधी पारलौकिक विषयों के सम्बन्ध में भी इसी दृष्टि को प्रधान मानते हुए, चर्म्मचक्षु से उनका साक्षात्कार करने में असमर्थ होते हुए उनकी सत्यता में सन्देह करने लगते हैं, ऐसे लौकिक विशुद्ध चाक्षुष प्रत्यक्षवादी ही नास्तिक–चार्वाक कहलाए हैं—**"प्रत्यक्षमेवेति चार्वाकाः"**। उधर बुद्धिमान् मनुष्य लौकिक विषयों के सम्बन्ध में जहाँ चर्म्मचक्षुः–सम्बन्धी प्रत्यक्ष का आदर करते हैं, वहाँ पारलौकिक अतीन्द्रिय विषयों के सम्बन्ध में आर्षचक्षुष्मन्त महर्षियों के आर्षप्रत्यक्ष का ही समादर करते हैं। दोनों प्रत्यक्ष लौकिक–वैदिक भेद से सुव्यवस्थित है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर **"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्य-मव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्"** (न्या० सू० १।१४) प्रत्यक्ष का यह लक्षण करते हुए आचार्य तन्मूलक शब्दप्रमाण का दिग्दर्शन कराते हुए—**"आप्तोपदेशः शब्दः, स द्विविधः, दृष्टाऽदृष्टार्थत्वात्"** (१।१।७–८) यह सिद्धान्त स्थापित करते हैं। उक्त दोनों प्रत्यक्षों को सूत्रकाराभिमत बतलाते हुए भाष्यकार कहते हैं—

"आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्म्मा, यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा। साक्षात्करणमर्थस्याप्तिः, तया प्रवर्त्तते इत्याप्तः। ऋष्यार्य्यम्लेच्छानां समानं लक्षणम्। तथा च सर्वेषां व्यवहाराः प्रवर्त्तन्ते। एवमेभिः प्रमाणैर्देव-मनुष्यतिरश्चां व्यवहाराः प्रकल्पन्ते नातोऽन्यथा—इति। ++यस्येह दृश्यतेऽर्थः, स दृष्टार्थः। यस्यामुत्र प्रतीयते, सोऽदृष्टार्थः। एवमृषिलौकिकवाक्यानां विभाग इति। किमर्थं पुनरिदमुच्यते? स न मन्येत–दृष्टार्थ एवाप्तोपदेशः प्रमाणम्–अर्थस्यावधारणात्–इति। अदृष्टार्थोऽपि प्रमाण–अर्थस्यानुमानात्–इति"।

(वात्स्यायनभाष्य १।१।७–८)

भाष्यकार का अभिप्राय यही है कि जो व्यक्ति अपने चर्म्मचक्षु से लौकिक विषय का साक्षात्कार कर, जैसा उसने स्वयं देखा है, ठीक वैसा ही कहने की इच्छा रखता हुआ वह **"आप्त"** कहलाता है। चाहे चर्म्मचक्षु से लौकिक विषय पर पहुँचा हो, अथवा आर्षचक्षु से अलौकिक विषय पर पहुँचा हो। उभयथा विषय का साक्षात्कार ही **आप्ति** है, ठीक निशाने पर पहुँच जाना ही आप्ति है। वह उपदेष्टा इस आप्तिभाव को लेकर ही हमें उपदेश देने के लिए प्रवृत्त हुआ है, अतएव वह **"आप्त"** कहलाता है। अपने–अपने प्रत्यक्ष–परोक्ष विषयों की आप्ति के सम्बन्ध से ऋषि–आर्य्य–म्लेच्छ, सब स्व स्व स्थान में आप्त हैं। इन्हीं आप्तों के उपदेश से लौकिक वैदिक सब व्यवहारों का सञ्चालन होता है।

इन्हीं दोनों आप्तियों का और भी अधिक स्पष्टीकरण करते हुए आगे जा कर भाष्यकार कहते हैं कि जिस आप्तवाक्य का प्रतिपाद्य विषय चर्म्मचक्षु से देखा जा सकता है, वह वाक्य इस चर्म्मचक्षु से दृष्ट अर्थ का साधक बनता हुआ **"दृष्टार्थ"** है। एवं जिस वाक्य के अर्थ का सम्बन्ध यहाँ न हो कर परलोक में होता है, वह वाक्य **"अदृष्टार्थ"** है। इस प्रकार अदृष्टार्थ-सम्बन्धी ऋषिवाक्यों का, एवं दृष्टार्थसम्बन्धी लौकिक वाक्यों का विभाग कर लेना चाहिए। **"आप्तोपदेशः शब्दः"** केवल इतना ही कह देने से दृष्टार्थ की तो प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती, कारण वहाँ उपदिष्ट अर्थ आँखों के सामने रहता है, फलतः उस पर विश्वास होना सुगम है। परन्तु अदृष्टार्थ को प्रमाण न माना जाना। अपेक्षित इसकी भी प्रामाणिकता है। कारण, यह अर्थ प्रत्यक्षाधार पर प्रतिष्ठित होता हुआ अनुमानमूलक है।

शब्दप्रामाण्यवाद—

परीक्षक महर्षि अपनी आर्षदृष्टि से पहिले स्वयं उस विषय का साक्षात्कार करता है, अनन्तर अपने दृष्ट अर्थ (प्रत्यक्षीकृत विषय) को शब्दोपदेश के द्वारा अस्मदादि के लिए प्रयुक्त करता है। अपना देखा हुआ प्रत्यक्षार्थ वह अपने मुख से ही शब्द द्वारा (स्वप्रत्यक्षानुभव को शब्दरूप में परिणत कर) कहता है। द्रष्टा परीक्षक का यह शब्द, दृष्टि का अनुसरण रखता हुआ हमारे लिए **"श्रुति"** बन जाता है। हम उससे वही सुनते हैं, जिसका हमने प्रत्यक्ष किया है। दूसरे शब्दों में उसके लिए जो दृष्टि है, वही हमारे लिए शब्दरूपमयी श्रुति है। इसी उपदेश-परम्परा को लक्ष्य में रख कर अभियुक्त कहते हैं—

"साक्षातकृतधर्म्माण ऋषयो बभूवुः। ते असाक्षात्कृतधर्म्मभ्योऽवरेभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः-'दैवींवाचमुद्यासमिति" । यास्कनिरुक्त ।१२०।२।

द्रष्टा के मुख से निकला हुआ शब्द द्रष्टा की दृष्टि (प्रत्यक्ष दृष्ट अर्थ) को ही अपना विषय बनाता है, उधर शब्द और अर्थ का तादात्म्य माना गया है। इसी आधार पर हम इस दृष्टि-(प्रत्यक्ष) को ही श्रुति कह सकते हैं। प्रकारान्तर से यों समझिए कि, यदि हमें यह विदित हो जाता है कि **"यह शब्द द्रष्टा का कहा हुआ है"** तो इस प्रत्यभिज्ञा के अव्यवहितोत्तर काल में ही इस शब्द पर हमारा विश्वास हो जाता है, उस समय में हमें अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहती। अपितु द्रष्टा के इस शब्द से ही बिना किसी विप्रतिपत्ति के उस शब्द के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ को प्रत्यक्षवत् सुनते हैं। अतएव द्रष्टा का यह शब्द **"श्रुति"** के नाम से व्यवहृत होता है। यह श्रुति प्रत्यक्ष स्थानीया होती हुई इतर की अपेक्षा नहीं रखती, अतएव मीमांसा ने इसका **"निरपेक्षोरवः श्रुतिः"** यह लक्षण किया है। हाँ तो निष्कर्ष यह निकला कि, हम जो शब्द द्रष्टा के मुख से सुनते हैं, वह हमारे से श्रुत होने के कारण **"श्रुति"** कहलाता हुआ भी स्वयं द्रष्टा की अपेक्षा से (शब्दार्थाभेदव्यवस्था से) साक्षात् **दृष्टि** (प्रत्यक्ष) होता हुआ, साथही में हमारे आत्मा में प्रत्यक्षवत् विश्वासोत्पत्ति का कारण बनता हुआ व्यवहार के लिए शब्दप्रमाण कहलाता हुआ भी वस्तुतः **"प्रत्यक्षप्रमाण"** ही है। द्रष्टा का प्रत्यक्ष ही उसका वाक्य है। फलतः प्रत्यक्ष अर्थ, एवं तदभिन्न शब्द दोनों एक वस्तु बन जाती है। **"श्रुति"** ही वेद है। यही शाब्दीदृष्टि किंवा शब्द

प्रमाण हमारे लिए प्रत्यक्ष **प्रमाण** होता हुआ, इतर प्रमाणों की अपेक्षा न रखता हुआ **स्वतः-प्रमाण** है। वेदशास्त्र की स्वतःप्रामाणिकता में आर्यजाति को न कभी सन्देह हुआ, न होगा। जिस प्रकार घटप्रत्यक्ष से हम घटपदार्थ पर बिना किसी सन्देह के विश्वास कर लेते हैं, एवमेव-वेद के शब्द-श्रवण मात्र से तच्छब्दवाच्य अर्थ पर हम प्रत्यक्षवत् विश्वास कर लेते हैं। मान लीजिए, किसी ने श्रौत अर्थ को सुना, सुन कर उस श्रोता ने हमसे कहा, ऐसी दशा में इस श्रोता के वाक्य को हम श्रुति न कहकर **"स्मृति"** कहेंगे। स्मृतिरूप शब्द श्रुत अर्थ को बतलाता है, अर्थदृष्टि का प्रतिपादन नहीं करता। इस शब्द से अर्थदृष्टि का अनुमानमात्र लगाया जाता है। अतएव स्मृतिप्रमाण को प्रत्यक्ष प्रमाण न कह कर हम **अनुमानप्रमाण** कहेंगे। देखने वाले से सुना हुआ शब्द **श्रुति** है, सुनने वाले से सुना हुआ शब्द **स्मृति** है। सुनने वाला यदि देखने वाले के बोले हुए शब्द के आधार पर बोलता है, तब तो परम्परया इसमें भी प्रामाणिकता आ जाती है। यदि वह द्रष्टा के शब्द के विरुद्ध बोलता हुआ कुछ कहता है, तो उसका यह अनुमान प्रमाण प्रत्यक्षरूप श्रौत प्रमाण से च्युत हुआ अप्रमाण बन जाता है। **"विरोधेत्वनपेक्षं-स्यादसतिह्यनुमानम्"** (जै० दर्शन) के अनुसार श्रुतिविरुद्ध स्मृतिशब्द अशब्द बनता हुआ शब्दप्रमाण की कोटि से बहिर्भूत हो जाता है। इसी अभिप्राय से भगवान् मनु कहते हैं—

या वेदवाह्या स्मृतयोयाश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्तानिष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः।।
मनुः १२।९५।

प्रमाणचतुष्टयी—

इस प्रकार पूर्व सन्दर्भ से यह भली भांति सिद्ध होजाता है कि, **प्रत्यक्ष-अनुमान-शब्द** पूर्वोक्त इन तीनों प्रमाणों में से जो तीसरा शब्दप्रमाण है, केवल उसीके प्रत्यक्ष, एवं अनुमान भेद से दो भेद होजाते हैं। **'श्रुति'** नामक शब्द द्रष्टा की दृष्टि से अभिन्न होता हुआ **'प्रत्यक्षप्रमाण'** है, एवं **स्मृतिरूप** शब्द शब्दश्रुति को मूल बनाता हुआ, परतः प्रमाण कोटि में प्रविष्ट होता हुआ **'अनुमानप्रमाण'** है। **"अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्"** (ब्रह्मसूत्र ३।२।२४) इत्यादि-सूत्र-व्याख्यानावसर पर भगवत्पाद शङ्कराचार्य ने **"प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्"** का **"श्रुतिस्मृतिभ्याम्"** यही अर्थ किया है। श्रुति **शाब्दीदृष्टि** है, स्मृति **शाब्दीतर्कयुक्ति** है, जैसा कि प्रकरण के आरम्भ में कहा जा चुका है।

यह तो हुआ प्रत्यक्ष-अनुमान-शब्द भेद भिन्न तीनों प्रमाणों में से केवल शब्द प्रमाण परिचय का दिग्दर्शन। अब प्रत्यक्ष, अनुमान, दो प्रमाण बच जाते हैं। बिना शब्द का चर्म्म चक्षु से सम्बन्ध रखने वाला लौकिक प्रत्यक्ष, प्रत्यक्ष है, बिना शब्द का ही विशुद्ध तर्कवाद (प्रत्यक्षमूलक) अनुमान है। चाक्षुष-ज्ञानरूपा दृष्टि अशाब्दी दृष्टि ही **लौकिक प्रत्यक्षप्रमाण** है, अशाब्दी युक्ति ही **लौकिक अनुमानप्रमाण** है। इस प्रकार शब्दप्रमाण के द्वैविध्य से तीन के स्थान में चार प्रमाण हो जाते हैं।

१
प्रत्यक्षम्—[१—१—प्रत्यक्षम्—अशाब्दम्—दृष्टिः—स्वतःप्रमाणम्
२
अनुमानम्–[२—२—अनुमानम्–अशाब्दम्—युक्तिः—परतःप्रमाणम् } —लौकिके

—*—

३
शब्दः—{ ३—१—प्रत्यक्षम्—शाब्दम्—श्रुतिः—स्वतःप्रमाणम्
४—२—अनुमानम्–शाब्दम्—स्मृतिः–परतःप्रमाणम् } —वैदिके

१–शब्दः–{ १–श्रुतिः–दृष्टिः (द्रष्टुर्वाक्यं श्रुतिः)-प्रत्यक्षम्-शाब्दीदृष्टिः-शास्त्रीयप्रत्यक्षम् स्वतः प्रमाणम्
२-स्मृतिः-श्रुतिः (श्रोतुर्वाक्यं स्मृतिः*)-अनुमानम्-शाब्दीयुक्तिः-शास्त्रीयतर्कवादःपरतः प्रमाणम्

२–प्रत्यक्षम्–[३—दृष्टिः–(चाक्षुषप्रत्यक्षं दृष्टिः)–प्रत्यक्षम्-चाक्षुषीदृष्टिः-लौकिकप्रत्यक्षम्-स्वतः प्रमाणम्

३–अनुमानम्-[४—युक्ति—(तर्कवादी-युक्तिः)–अनुमानम्-लौकिकीयुक्तिः-विशुद्धतर्कवादः–परतः प्रमाणम्

चाक्षुषदृष्टि से दृष्ट भौतिक विश्व का सञ्चालन किसी अदृश्य शक्ति के आधार पर ही हो रहा है, यह निर्विवाद विषय है। वही अदृश्य शक्ति, किंवा शक्तिमान् पुरुष "अन्तर्य्यामी" नाम से प्रसिद्ध है। इस अन्तर्य्यामी शास्ता पुरुष का वह अदृश्य लोक ही 'परलोक' नाम से प्रसिद्ध है। परलोक ही इस लोक की प्रतिष्ठा है। जिन महापुरुष ने श्रुति स्मृति के द्वारा इस अदृश्य जगत् का स्वरूप हमारे सामने रखने का अनुग्रह किया है, उसको अभिनिवेश में पड़ कर हम उपेक्षावृत्ति में डाल दें, इस से बढ़ कर हमारा और अहित क्या हो सकता है। अवश्य ही **आत्म–परमात्म–परलोक–आत्मगति–श्राद्धकर्म**–इत्यादि इन्द्रियातीत विषयों के सम्बन्ध में हमें श्रुति स्मृति का अनुगमन करना चाहिए। थोड़ी देर के लिए पारलौकिक विषयों को छोड़ दीजिए। बिना लौकिक शब्द प्रमाणरूप प्रत्यक्ष, एवं युक्तिरूप अनुमान प्रमाण के लौकिक व्यवहारों का भी सञ्चालन नहीं हो सकता। आप बाजार जाते हैं, केवल वृद्धव्यवहार के आधार पर तत्तदभिलषित वस्तुओं का क्रय कर लेते हैं। हम आप से पूछते हैं कि, क्या कभी आपने

वृद्धव्यवहार की प्रामाणिकता—

*स्मृति स्वयं शास्त्रीय तर्कमूला है। उधर धर्म्म स्मृतिमूल है। अतएव धर्म्मनिर्णय में इस शास्त्रीय तर्क को ही प्रधान माना है, जैसा कि स्मृति कहती है—

आर्षं धर्म्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्म्मं वेद नेतरः॥ (मनुः)

जौ–गेहूं–उर्द–मूंग–घृत–तन्दुल-आदि अन्नों की पूर्ण परीक्षा कर यह निश्चय कर लिया है कि यही जौ है, यही गेहूं है, यही उर्द, मूंग आदि हैं। यदि कभी परीक्षा नहीं की, तो फिर आप (बिना परीक्षा किए हीं) यह जौ है, यह गेहूं है, यह विश्वास किस आधार पर कर लेते हैं। साथ ही में अमुक अन्न में अमुक गुण है, अमुक में अमुक गुण है—यह विश्वास कैसे कर बैठते हैं। एवमेव एक भिषग्वर आपको सोंठ, मिर्च, पिप्पल के क्वाथ के लिए औषधपत्र (नुसखा) लिख देता है। आप एक पन्सारी की दूकान पर जाते हैं। आप यह जानते हैं कि ज्ञानदृष्टि से पन्सारी आपके सामने अयोग्य है, फिर भी केवल उसी के विश्वास पर उससे दी गई वस्तुओं को सोंठ-मिर्चादि मान कर आप सन्तुष्ट हो जाते हैं। क्या कभी आपने इन औषधियों की परीक्षा की थी। नहीं तो फिर क्यों विश्वास किया ? इन सब प्रश्नों के समाधान के लिए सिवाय प्रत्यक्षकर्त्ता आचार्यों के शब्दोपदेश के आपके पास दूसरा कोई समाधान नहीं है। वृद्धव्यवहार, प्रत्यक्षकर्त्ता वृद्धों का शब्दादेश ही आप के विश्वास के लिए पर्य्याप्त है।

यदि दुर्भाग्यवश आप—**"हम तो बिना परीक्षा किए, बिना प्रत्यक्ष किए बात नहीं मानते"** इस दुराग्रह में पड़ जायंगे तो उन्नति की कथा दूर रही जीवन ही संकट में पड़ जायगा। बाध्य होकर आपको शब्दप्रमाण का आश्रय लेना पड़ेगा। जिस प्रकार लौकिक दृष्टार्थ विषयों के सम्बन्ध में आप स्वयं प्रत्यक्ष न करते हुए भी प्रत्यक्षकर्त्ता वृद्धों के शब्दादेश पर विश्वास करते हुए तत्तल्लौकिक व्यवहारों में प्रवृत्त होते हैं, एवमेव आपको अलौकिक अदृष्टार्थ विषयों के सम्बन्ध में स्वयं उनका प्रत्यक्ष न करते हुए भी प्रत्यक्ष-कर्त्ता ऋषियों के शब्दादेशरूप श्रुति-स्मृति शास्त्र प्रामाण्य पर कभी अविश्वास नहीं करना चाहिए। यदि आप यह कहें कि, यदि हम चाहें तो दृष्टर्थों का प्रत्यक्ष कर सकते हैं। हम कहेंगे—यह हमारे लिए इष्टापत्ति है। प्रयास से आप क्या नहीं कर सकते। यदि विद्यालयों में अध्ययन का परिश्रम कर आप औषधियों की परीक्षा कर सकते हैं तो—**सत्यभाषण, ब्रह्मचर्य–अहिंसा–वेदानुपालन–श्रद्धा–उपनिषत्**–आदि इन उपायों से चिरकाल की तपश्चर्या से उत्पन्न योगजदृष्टि से आप उन अलौकिक अदृष्टार्थों का भी प्रत्यक्ष कर ही सकते हैं। दोनों जगह समान प्रश्न है, समान समाधान है। हाँ, एकमात्र दुराग्रह की चिकित्सा न इस लोक में है, न परलोक में है—**"नतु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्"**।

श्राद्धकर्म्मानुगत प्रामाण्यवाद—

श्राद्ध–कर्म्म का **आत्मा** से सम्बन्ध है, **पितर-प्राण** से सम्बन्ध है, **श्रद्धासूत्र** से सम्बन्ध है, **परलोक** से सम्बन्ध है। सभी अदृष्टार्थ हैं। फलतः इनके सम्बन्ध में शब्द-प्रमाण सर्वथा आवश्यक बन जाता है। केवल तर्कवाद पर, अथवा (कुछ एक महानुभावों की दृष्टि में कल्पनाप्रधान, अतएव प्रमाण कोटि से बहिष्कृत) **पुराण तन्त्र-निबन्ध** आदि कल्पित प्रमाणों के आधार पर श्राद्धकर्म्म को विश्वस्त कर्म्म नहीं माना जा सकता। इस की प्रामाणिकता के लिए श्रुतिस्मृति प्रमाण, उस में भी प्रधानतया श्रुति-प्रमाण, उस में भी विशेषतः श्रुति के संसहता भाग का ही प्रमाण अपेक्षित है। **'शब्द प्रमाणका वयं यदस्माकं शब्द आह, तदस्माकं प्रमाणम्"**। अब देखना यह है कि, श्रुति-स्मृति में, विशेषतः श्रुति में **श्राद्धकर्म्म** को शास्त्रीय कर्म्म सिद्ध करने वाले **दृढ–दृढतर–दृढतम** प्रमाण उपलब्ध होते हैं, अथवा नहीं।

पूर्व–प्रतिपादिता **'आत्मविज्ञानोपनिषत्'** से विज्ञ पाठकों को यह भलीभाँति विदित हो गया होगा कि, **अध्यात्मसंस्था** में **पुरुष–अव्यक्त–यज्ञ आदि** भेद से आत्मविवर्त्त अनेक भागों में विभक्त हैं। इन सब **खण्डात्माओं** में से **श्राद्धकर्म्म** का सम्बन्ध एकमात्र प्रज्ञानात्मगर्भित **महानात्मा** के साथ ही है। यह चान्द्र महानात्मा पितृप्राणमय है। **श्राद्ध** के द्वारा महानात्मा में प्रतिष्ठित **प्रेत पितरों** को **'स्वधा'** द्रव्य से तृप्त किया जाता है। स्वधान्न से तृप्त पितर स्ववंश में प्रजातन्तु को सम्यक्रूप से (सन्तान रूप से) वितत रखते हैं, यही इस कर्म्म का प्रधान फल है। आत्मस्वरूप के निरूपण के अनन्तर हमारा यह आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है कि, पितरप्राण का वैज्ञानिक स्वरूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जाय।

जिस प्रकार श्रुति का **"आत्म"** शब्द जटिल है, एवमेव **"पितर"** शब्द भी सर्वथा मीमांस्य है। विचार सागर के अन्तस्तल पर पहुंचे हुए श्रौततत्त्ववेत्ता विद्वान् यदि **मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद** के पितर शब्द पर दृष्टि डालेंगे तो उन्हें यह मान लेने में कोई आपत्ति न होगी कि, पितर शब्द वास्तव में किसी गुहा-निहित रहस्य से सम्बन्ध रखता है। श्रुति में पितर शब्द—१—**अग्नि**, २—**सोम**, ३—**ऋतु**, ४—**संवत्सर**, ५—**विट्**, ६—**मास**, ७—**औषधि**, ८—**यम**, ९—**अपराह्ण**, १०—**कूप**, ११—**नीवि**, १२—**मघा**, १३—**मन**, १४—**ह्लीक**, १५—**ऊष्मा**, १६—**ऊम**, १७—**ऊर्व**, १८—**काव्य**, १९—**देव**, २०—**प्राण**, २१—**रात्रि**, २२—**अवान्तर दिशाएँ**, २३—**तिर**, २४—**सुप्तभाव**, २५—**अग्नि से खाया जाने वाला तत्त्व**, २६—**मर्त्य तत्त्व**, २७—**प्रजापति**, २८—**गृहपति**, २९—**वाक् मन का समुच्चय**, ३०—**अन्न** इत्यादि भेद से अनेक भावों के लिए प्रयुक्त हुआ है। जीवित **पिता** पितामहादि भी **"पितर"** न कहलाते हों यह बात नहीं है–**"पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति"** में पिता शब्द जीवित (शरीर) भाव का ही अनुग्राहक है। यह सब कुछ मान लेने पर भी यह सर्वथा निःसंदिग्ध विषय है कि, जिन पितरों के लिए **श्राद्ध** का **विधान** है, वे **प्रेत-पितर** ही हैं, जैसा कि आगे के प्रकरणों से स्पष्ट हो जायगा। प्रथम संहिता भाग में उपात्त पितर-तत्त्व का साक्षात्कार कीजिए, साथ ही में मीमांसा-सम्मत अर्थसङ्गति-विषयक नियमों के अनुसार बिना किसी पक्षपात के उनका क्या अर्थ हो सकता है ? यह विचार कीजिए।

वेदसंहितोक्तप्रामाण्यवाद—

१–उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ।। ऋक्० १०।१।१

"**प्रथम मध्यम** एवं **उत्तम** श्रेणि के पितर (हमारे लिए) सौम्य (अनुग्रह करने वाले) बनते हुए (हमारी) उन्नति के कारण बनें। ऋतु को पहिचानने वाले अहिंसक पितर, प्राण-प्रदाता हैं। ऐसे वे पितर हमारी प्रार्थना सुनें, हमारी रक्षा करें।"

मन्त्र के अक्षरार्थ से यह सिद्ध होता है कि, पितर कोई तत्त्व-विशेष है, प्राणविशेष है। पितर प्राण का सोम तत्त्व से सम्बन्ध है। साथ ही में यह तत्त्व प्राणशक्ति का प्रदाता है। यदि श्रुत्युक्त पितर का

जीवित पितर-परक अर्थ लगाया जाता है, तो वह कथमपि सङ्गत नहीं होता। कारण, प्रत्येक व्यक्ति के लिए जीवित पिता पितामह आदि समान रूप से पूज्य हैं। उनमें प्रथम–मध्यम–उत्तम, इस प्रकार का लौकिक श्रेणिविभाग सर्वथा असंङ्गत है।

—**—

२–त इद्देवानां सधमाद आसनृतावानः कवयः पूर्व्यासः।
गूलहं ज्योतिः पितरो अन्वविन्दन्त्सत्यमन्त्रा अजयन्नुषासम् ॥

ऋक्० ७।७६।४।

"ऋत मार्ग (सरल मार्ग) के अनुयायी, भृगुवंशी पूर्वकालिक वे अङ्गिरा नाम के पितर ही देवताओं के साथ प्रेम करने में समर्थ हुए। गुहानिहित ज्योति (सूर्य्य) को इन्होंने ही प्रकट किया। सत्यब्रह्म के उपासक, किंवा सत्यमन्त्र (ब्रह्म) मूर्ति इन पितरों ने ही उषा को उत्पन्न किया।"

प्रकाश—उषा आदि तत्त्व प्राकृतिक हैं जो पितर इन प्राकृतिक तत्त्वों के उपादान (उत्पादक) माने जाते हैं, उनका जीवित पितरों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। अवश्य ही यह पितर प्राण आधिदैविक जगत् की कोई मौलिक प्राणात्मक वस्तु होनी चाहिए।

—**—

३–सरस्वति या सरथं यथाथ स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती।
आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयस्वानमीवा इष आधेह्यस्मै ॥–ऋक्० १०।१७।८

"पितरों के साथ रथ पर आरूढ होती हुई, एवं स्वधा नामक अन्न से मोदमान होती हुई हे सरस्वती देवी! इस यज्ञ में विराजमान होकर आप प्रसन्नमूर्ति बनिए, हमें एवं हमारे अन्नों को निर्दोष कीजिए।"

इस मन्त्र ने सरस्वती नाम की वाग् देवता के साथ पितरों का सम्बन्ध बतलाया है। परमेष्ठी के **सरस्वान** समुद्र से ही इस सरस्वती वाक् का विनिर्गम है। उसी सौम्य परमेष्ठी मण्डल में सौम्य प्राण-रूप पितरतत्त्व प्रतिष्ठित है। ऐसी स्थिति में पितर शब्द को जीवित पितादि परक ही मानना क्या शास्त्रसम्मत पक्ष है?

—**—

४–प्रजापतिर्मह्यमेता रराणो विश्वैर्देवैः पितृभिः संविदानः।
शिवाः सतीरुप नो गोष्ठमाकस्तासां वयं प्रजया संमदेम ॥

—ऋक्० १०।१६।४

"**विश्वेदेव**" नामक (पारमेष्ठ्य) देवता, एवं पितरों के साथ संयुक्त होते हुए (मिलते हुए) प्रजापति (परमेष्ठी) मेरे लिए गौसंपत्ति प्रदान करते हैं। वह प्रजापति देवता कल्याणकारिणी बनती हुई, उन गायों को हमारे गोस्थान (गौशाला) के सन्निकट करें, एवं उन गौसंतानों से (गोवंश से) हम प्रसन्न हों।"

भृगु–अङ्गिरात्मक परमेष्ठी ही मैथुनी दृष्टि से अधिष्ठाता बनते हुए **प्रजापति** हैं। सायंसवनीय देवता ही "**विश्वेदेव**" हैं। रात्रि का उपक्रम काल ही सोमोपक्रम काल है। सोम परमेष्ठी की ही वस्तु है। विश्वेदेव एवं पितर दोनों प्राणों की प्रतिष्ठा सौम्य परमेष्ठी ही है। परमेष्ठी में ही सहस्रधा विभक्त गोतत्त्व उत्पन्न होता है। इसी को "**व्रजं गच्छगोष्ठानम्**" (यजु० सं० १।२५) इत्यादि रूप से **व्रज** नाम का गोष्ठान (गोचारणस्थान) कहा गया है। इसी पारमेष्ठ्य वैष्णव गौतत्त्व को लक्ष्य में रखकर "**या ते धामान्युष्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः**" (यजुः सं० ६।३) यह कहा जाता है। पूर्व मन्त्र इसी गौप्रवर्त्तक पारमेष्ठ्य सौम्य प्राण को **पितर** शब्द से सम्बोधित कर रहा है।

—**—

५–अतिद्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा।
अथा पितॄन्त्सुदत्राँ उपेहि यमेन ये सधमादं मदन्ति ।।१।।

६–यौ ते श्वानौ यमरक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ।
ताभ्यामेनं परिदेहि राजन् स्वस्ति चास्मा अनमीवञ्च धेहि।।२।।

—(ऋक् सं० १०।१४।१०।११

"हे (प्रेत) पितर! (परलोक जाने वाले प्रेतात्मन्) (आप) चार आँखों वाले, श्यावशबल (चितकबरे) सारमेय नाम से प्रसिद्ध दोनों कुत्तों से बच कर जाइए। तुम्हें उत्तम पितृलोक प्राप्त हो, जहाँ के कि पितर यम के साथ आनन्दित होते हैं।"

उक्त दोनों मन्त्रों में जिन दो कुत्तों के साथ जिन पितरों का सम्बन्ध बतलाया गया है, वे अवश्य स्थूल शरीर छोड़ कर लोकान्तर में जाते हुए **प्रेतपितर** (प्राणात्मक पितर) हैं।

द्वौ श्वानौ श्यावशबलौ वैवस्वतकुलोद्भवौ।
ताभ्यामन्नं प्रयच्छामि स्यातावेत्तावहिंसकौ।।

इत्यादि रूप से परलोक जाते हुए प्रेतात्मा को दक्षिण आकाश में स्थित नाक्षत्रिक याम्य श्वान प्राणों के आघात से बचाने के लिए उन. श्वानों के लिए बलि दी जाती है, जैसा कि पद्धति–प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है।

७—यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत एकशतं देवकर्म्मेभिरायतः ।
इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्र वयाप वयेत्यासते तते ।।—ऋक्० १०।१३०।१।

"जो यज्ञ चारों ओर से (अहर्गणात्मक) तन्तुओं से फैला हुआ है, एक शत (१००) देव कर्म्म से (१०० आयुः-सूत्रों से) जो वितत हो रहा है, उस (वितान) यज्ञ को पितर लोग बुनते हैं। वे पितर प्राणात्मक हैं, एवं साथ ही में वे कहते हैं कि **आगे आगे बुनते जाओ-पीछे का ठीक करते हुए"** ।

हमारा शरीर एक प्रकार का आयुःसूत्रात्मक वस्त्र है। शुक्र में प्रतिष्ठित पितर प्राण ही प्राणों का ताना-बाना लगा कर इस शरीरात्मक वस्त्र का निर्म्माण करते हैं। फलतः इस पितर की प्राणात्मकता सिद्ध हो जाती है।

—**—

८-पाकः पृच्छामि मनसाऽविजानन् देवानामेना निहिता पदानि ।
वत्से बष्कये ऽ धि सप्ततन्तून् वितत्निरे कवय ओतवा उ ।।१।। ऋ० १।१६४/५

९-महिम्न एषां पितरश्च नेशिरे देवा देवेष्वदधुरपि क्रतुम् ।।
समविव्यचुरुत यान्यत्विषुरैषां तनूषु निविविशुः पुनः ।।२।। 10/56/4

१०-सहोभिर्विश्वं परिचक्रमूरजः पूर्वा धामान्यमिताभिमानाः ।।
तनूषु विश्वा भुवनानि येमिरे प्रासारयन्त पुरुध प्रजा अनु ।।३।। (10/56/5)

११--द्विधा सूनवो ऽ सुरं स्वर्विदमास्थापयन्त तृतीयेन कर्म्मणा ।।
स्वां प्रजां पितरः पित्र्यं सह आवरेष्यदधुस्तन्तुमाततम् ।।४।। (10/56/6)

१२-नावा न क्षोदः प्रदिशः पृथिव्याः स्वस्तिभिरति दुर्गाणि विश्वा ।।
स्वां प्रजां बृहदुक्थो महित्वा ऽ वरेष्वदधादापरेषु ।।५।। (10/56/7)

"चन्द्रमा से आने वाले 'सहःप्राण' की प्रतिष्ठाभूत शुक्र ही पितरप्राण की आवास भूमि है। शुक्रभुक्त यह सहोमूर्ति पितरप्राण सात पीढी तक वितत होता हुआ सापिण्ड्य भाव का कारण बनता है। उपर्युक्त पाँचों मन्त्र सापिण्ड्यप्रवर्त्तक इसी पितरप्राण का कर्म्मविज्ञान बतला रहे हैं। इन मन्त्रों का सोपपत्तिक निरूपण आगे आने वाली **"सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्"** में होने वाला है।

१३–ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते ।।
तेभ्यः स्वरा ऽ सुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयन्ति ।। (यजुः १६।६०)

"अग्नि से खाए हुए–अतएव '**अग्निष्वात्ता**' नाम से प्रसिद्ध, अग्नि से न खाए हुए, अतएव **अनग्निष्वात्ता**' नाम से प्रसिद्ध पितर (हमारे दिए हुए) स्वधा अन्न से अन्तरिक्ष में आनन्दित हो रहे हैं। उन मोदमान पितरों के लिए दीप्तिमान अग्नि कामनानुसार नवीन शरीर (आतिवाहिक शरीर) का निर्म्माण करते हैं"।

मन्त्रोपात्त अग्निष्वात्तादि पितर प्राणात्मक प्रेत पितर के ही उपोद्बलक माने जा सकते हैं। क्या जीवित पितर अन्तरिक्षलोक में निराधार प्रतिष्ठित रह सकते हैं ?

—**—

१४—"नमो वः पितरो रसाय, नमो वः पितरः शोषाय, नमो वः पितरो जीवाय, नमो वः पितरः स्वधायै, नमो वः पितरो घोराय, नमो वः पितरो मन्यवे, नमो वः पितरः, पितरो नमो वः, गृहान्नः पितरो दत्त सतो वः पितरो देष्मै तद्वः पितरो वासः।" (यजुः सं० २।३२)

मन्त्रप्रदर्शित रस–शोष–जीव–स्वधा—घोर–मन्यु–लक्षण पितर प्राणात्मक प्राकृतिक पितर ही हो सकते हैं।

—**—

१५—ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम् ।
स्वधा स्थ तर्पयत मे पितृन् ।। (यजुः सं० २।३४)

"बलप्रद ऊर्क् रस, 'अमृत' नामक शिवतम सोमरस, घृत नामक आन्तरिक्ष्यरस दुग्धरस, आदि अनेक रसों को धारण करने वाले हे जल देवता ! आप स्वधा बनकर मेरे पितरों को तृप्त करो"।

इस मन्त्र में स्पष्ट शब्दों में जलाञ्जलि से पितृतर्पण का उल्लेख हुआ है।

—**—

१६—एतत् ते प्रततामह ये स्वधा ये च त्वामनु ।। (अथर्व० १८।४।७५)

"हे प्रततामह ! (प्रपितामह) आपके लिए (श्रद्धापूर्वक) दिया हुआ अन्न आपके लिए स्वधा (अन्तर्य्याम सम्बन्ध से आपका भोग्य) बने, साथ ही में जो आपके अनुयायी हैं, उनके लिए भी स्वधा बने"।

प्रदत्त पिण्डान्नरूप स्वधा से परलोकस्थ पितामह-प्रपितामहादि तृप्त होते हैं, इस से बढ़कर श्राद्ध की प्रामाणिकता के लिए और कौनसा प्रमाण चाहिए ?

—※—

१७—मैनमग्ने विदहो माभि शूशुचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम् ।
शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं प्रहिणुतात् पितृभ्यः ॥
(अथर्व० १८।२।४)।

"हे क्रव्यादग्ने ! आप इस प्रेत शरीर को कष्ट के साथ न जलावें, इसे शोकसंतप्त न करें, इसकी चमड़ी बाहर न फैंकें, अपितु (इसके आत्म भाग को सुरक्षित रखते हुए) शरीर (शव) को सर्वात्मना जला डालिए। हे जातवेदा अग्ने ! जब शरीर जलने पर प्रेतात्मा परिपक्व हो जाय, तो उस अवस्था में आप इसे पितरों के अधिकार में कर दें। अर्थात् पितृलोक में स्थित इसके पूर्व पितरों के साथ इसका सापिण्ड्य भाव करा दें।"

—※—

१८—समिन्धते अमर्त्यं हव्यवाहं घृतप्रियम् ।
स वेद निहितान् पितॄन् परावतो गतान् ॥ (अथर्व० १८।४।४१)।

"मरणरहित एवं घृतप्रिय (देवताओं के हव्यवहन करने के कारण) **'हव्यवाहन'** नाम से प्रसिद्ध अग्नि को (प्रकृतिरहस्यवेत्ता यज्ञसंचालक ऋत्विक्‌लोग सामिधेनी रूप मन्त्रशक्ति से) *समिद्ध करते हैं। क्योंकि यह (समिद्ध) अग्नि गुप्त सम्पत्तियों को पहिचानने वाले हैं, साथ ही में (पृथिवी लोक से) बहुत दूर रहने वाले (प्रजाप्रवर्त्तक) पितरों को भी यही पहिचानते हैं। (ऋत्विजों को यज्ञ द्वारा यज्ञाधिष्ठाता यजमान के लिए पार्थिव धन सम्पत्ति, एवं पितर-प्राण मूलक प्रजा सम्पत्ति ही अपेक्षित है, एवं दोनों

---

*पार्थिव अग्नि भूतप्रधान है। इसके साथ सौर प्राणदेवता का सम्बन्ध करना है। जिस मन्त्रबल प्रयोगरूप विशेष प्रक्रिया से पार्थिव प्रज्वलित अग्नि को सौर तत्त्व से युक्त कर इसे दिव्यशक्ति युक्त बनाया जाता है, वही प्रक्रिया **"समिन्धन"** नाम से प्रसिद्ध है। अध्वर्यु इसे प्रज्वलित करता है, होता सामिधेनी मन्त्रों के द्वारा इसे समिद्ध करता है। यही समिद्ध अग्नि वसुवित् है— "वयुनानि विद्वान्" (देखिए शत० ब्रा० सामि० ब्राह्मण)।

सम्पत्तियों के अधिष्ठाता समिद्ध (वैध–याज्ञिक) अग्नि ही है। अतः उक्त फल प्राप्त्यर्थ अग्नि का समिन्धन आवश्यक है)।"

मन्त्र ने जिस समिद्ध अग्नि को स्पष्ट शब्दों में "परावतः" कहते हुए जिन परलोकगत पितरों को पहिचानने वाला बतलाया है, क्या वह पितर जीवित पितर हैं ?

—❀—
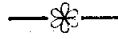
१९—यद्वो अग्निरजहादेकमङ्गं पितृलोकं गमयं जातवेदाः।
तद्व एतत् पुनराप्याययामि साङ्गाः स्वर्गे पितरौ मादयध्वम् ॥

—अथर्व० १८।४।६४।

"हे पितर देवताओ ! परलोक में जाते हुए आपके जिस एक* अङ्ग को जातवेदा अग्नि ने छोड़ दिया है, (अग्नि से परित्यक्त) उस अङ्ग को (इस आहुति के द्वारा) मैं पुनः पूर्ण करता हूँ। आप पूर्णाङ्ग बनते हुए स्वर्ग में आनन्द कीजिए"।

मन्त्र ने आहुति के द्वारा पितरों को तृप्त करना बतलाया है। हमारे द्वारा नहीं, अग्नि के द्वारा। अवश्य ही मन्त्रोपात्त 'पितर' शब्द प्राणी का वाचक न होकर प्राण का ही वाचक है।

—❀—
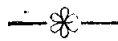
२०—जीवानामायुः प्रतिरत्वमग्ने पितृणां लोकमपि गच्छन्तु ते मृताः।
सु गार्हपत्यो वितपन्नरातिमुषामुषां श्रेयसीं धेह्यस्मै॥ अथर्व० १२।२।४५।

हे अग्ने ! जीवित दशा में आप (प्राणी की) आयुवृद्धि करें, मरने पर उन्हें पितृलोक पहुँचाने का अनुग्रह करें। कृपण मनुष्य को दग्ध करते, इस प्राणी के शत्रुओं को जलाते हुए हे गार्हपत्य (अग्ने) ! इस जीवात्मा के लिए (प्रेत पितर के लिए) आप कल्याणकारिणी नूतन-नूतन उषाओं को धारण करें।"

वेद महर्षि ने स्पष्ट ही मृत्यु के अनन्तर पितरात्मक प्राणी का परलोक गमन बतलाया है। अवश्य ही वह पितृलोक प्राणात्मक पितर से युक्त होना चाहिए।

---

*भूवायु से सम्बन्ध रखने वाला हंसात्मा पार्थिव कर्मात्मा का ही एक अङ्ग है। यह कर्मात्मा के साथ लोकान्तर में जा कर यहीं भूवायु में रह जाता है, जैसा कि पूर्व की "प्राणात्मविज्ञानोपनिषत्" में विस्तार से बतलाया जा चुका है। अग्नि इस अङ्गरूप हंसात्मा को यहीं छोड़ देता है। इसकी तृप्ति के लिए स्वतन्त्र हवि दी जाती है।

२१—ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चो द्धताः ।
सर्वांस्तानग्ने आवह पितृन् हविषे अत्तवे ।। —अथर्व० १८।१।३४।

"जो भूमि में गाड़े गये हैं, जो पानी में बहा दिए गए हैं, जो अग्नि में जला दिए गए हैं, एवं जो यों ही फेंक दिए गए हैं, हे अग्ने ! उन सबको आप हवि (श्राद्धान्न) भक्षणार्थ बुलाइए ।"

यह मन्त्र तो स्पष्ट शब्दों में ही मृत पितरों के लिए श्राद्धान्न का विधान कर रहा है। मन्त्र से यह भी विदित होता है कि, वैदिकयुग में शवदाह के सम्बन्ध में चार प्रकार की पद्धतियां प्रचलित थीं। अदन्तक शिशुओं को जमीन में गाड़ा जाता था, तीर्थातिरिक्त प्रदेशों में मरने वाले सदन्तकों को अग्नि से जलाया जाता था, वाराणसी-हरिद्वार आदि गाङ्गेय प्रदेशों में मरने वालों को गङ्गाप्रवाह में प्रवाहित किया जाता था, सन्यस्त आश्रमवासियों को विशेषतः शून्य जंगल में डाल दिया जाता था, वहाँ वन्य हिंस्रक पशु पक्षी उसके शव को कवलित कर लेते थे। इन चारों में आरम्भ की तीन पद्धतियां तो आज भी प्रचलित हैं।

—❀—
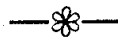
२२–देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरश्च ये ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ।। —अथर्व० ११।७।२७।

इस मन्त्र में पितरों की मनुष्यों से पृथक् गणना हुई है। फलतः पितृतत्त्व का प्राणत्व सिद्ध हो जाता है।

—❀—
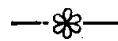
२३–पृथिवीं त्वा पृथिव्यामावेशयामि देवो नो धाता प्रतिरात्यायुः ।
परा परैता वसुविद् वो अस्त्वधा मृताः पितृषु सम्भवन्तु ।।
—अथर्व० १८।४।४८

* "पृथिवी से उत्पन्न होने के कारण पृथिवी रूप तुझ को पृथिवी में मिला रहा हूँ। धाता देव हमें आयु प्रदान करें। हमसे (हमारे इस पृथिवी लोक से) दूरातिदूर जाने वाले हे पितरो ! धाता देवता तुम्हारा आश्रय दाता हो, एवं मृतभाव को प्राप्त होने वाले तुम (परलोक में जाकर वहां रहने वाले) पितरों में मिल जाओ"।

* इसी मन्त्रभाग के आधार पर लोक में—"मिट्टी में मिट्टी मिल गई" आखिर है मिट्टी की मिट्टी" इत्यादि किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं।

श्मशान भूमि में जब शव को गाड़ दिया जाता है, जला दिया जाता है, पानी में बहा दिया जाता है, अथवा फैंक दिया जाता है, तो अनन्तर इस मृत प्राणी के पुत्रादि उक्त मन्त्र बोलते हैं। आज उन्होंने वास्तव में इस पार्थिव शरीर को पृथिवी के समर्पित कर दिया है। इस कर्म्म द्वारा आज इनके आत्मा में भी मृत्युभाव का समावेश हुआ है। इसके निराकरण के लिए (हम तो दीर्घजीवी बनें रहें, इस कामना के लिए) यह आगे जाकर—"**धाता देव हमें आयु प्रदान करे, जीवित रक्खे**' यह कहते हैं। आगे जाकर मन्त्र कहता है कि इस प्राणी का परलोक में (पितृलोक में) गमन होता है, एवं तत्रस्थ पितरों के साथ इसका एकीकरण होता है। यही प्रक्रिया '**सापिंड्य**' नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार उक्त मन्त्र स्पष्ट शब्दों में **सपिण्डीकरण** की प्रामाणिकता सिद्ध कर रहा हैं।

—✻—

२४—"नमो वः पितर ऊर्जे, नमो वः पितरो रसाय" (अथर्व० १८।४।८)

नमो वः पितरो भामाय, नमो वः पितरो मन्यवे" (अथर्व० १८।४।८२)

यहाँ अर्क् **रस-भाम-मन्यु**-आदि तत्त्वों को **पितर** शब्द से सम्बोधित किया गया है, क्या इन्हीं जीवित पितरों की श्रद्धापूर्वक सेवा करना श्राद्ध है ?

—✻—
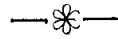
२५—इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात् कामदुधा म एषा।
इदं धनं निदधे ब्राह्मणेषु कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः॥

—अथर्व० ११।१।१।

"यह सुवर्ण मेरा अविनाशी प्रकाश है। क्षेत्र से उत्पन्न होने वाला यह पक्व अन्न (पिण्ड), एवं **गौ** (उत्सृष्ट वृषभ) मेरी कामनाओं को पूर्ण करने वाली है। इस (दक्षिणारूप-हिरण्य-अन्न-गौ) धन को मैं निधिरूप से (पिण्ड पितृयज्ञ के सम्पादक) ब्राह्मणों में प्रतिष्ठित करता हूँ। इन सब साधनों के द्वारा मैं पितरों के लिए वह मार्ग बनाता हूँ, जो कि सुखप्रद है।"

यह उक्ति श्राद्धकर्त्ता यजमान की है। पक्व तण्डुलपिण्ड–दान पितरों के लिए है। साथ ही-दान में दी जाने वाली गौ, एवं हिरण्य (धातुद्रव्य-रुपया पैसा आदि यथाश्रद्धा) यद्यपि दिए जाते हैं ब्राह्मणों को, परन्तु इस दक्षिणादान से जो अतिशय उत्पन्न होता है, श्रद्धासूत्र के द्वारा उसका सम्वन्ध प्रेतात्मा के साथ होता है। श्राद्धकर्म्म में उपयुक्त अन्न पिण्ड, एवं ब्राह्मणोपयोगी भोजनान्न भेद से दो भागों में विभक्त है। कृत कर्म्म में मनुष्य-सुलभ अनृतभाव से होने वाले दोष के मार्जन के लिए ही कर्म्मान्त में

ब्राह्मण भोजन का विधान है, जैसा कि श्राद्धपद्धति प्रकरण में सोपपत्तिक स्पष्ट हो जायगा। ऋषि को उभयविध अन्न का संग्रह अभीष्ट था, अतः **"पक्वं क्षेत्रात्"** कहा है। इस प्रकार **पिण्डदान ब्राह्मणभोजन-द्रव्यदान-गौदान** आदि से उत्पन्न होने वाला प्राणात्मक अतिशय श्रद्धासूत्र के द्वारा अवश्य प्रेतात्मा को तृप्त करता है। प्रेतात्मा जिस मार्ग से जाता है, यह अतिशय उसी सूक्ष्म आतिवाहिक मार्ग से जाता है। जैसा कि ब्राह्मणश्रुति कहती है—

"ता वा एताः—ऋत्विजामेव दक्षिणाः। अन्यं वा एतऽएतस्य (गच्छतः) आत्मानं संस्कुर्वन्ति, एतं यज्ञ-ऋङ्मयं, यजुर्मयं, साममयं, आहुतिमयम्। सोऽस्यामुष्मिंल्लोकऽआत्मा भवति, तद्ये प्राजीजनन्तेति—तस्माद् ऋत्विग्भ्य एव दक्षिणा दद्यात्, नानृत्त्विग्भ्यः। अथ प्रतिपरेत्य गार्हपत्यं-दक्षिणानि जुहोति। स दशाहोमीये वाससि हिरण्यं प्रबध्यावधाय जुहोति। देवलोके मेऽप्यसदिति वै यजते, यो यजते। सोऽस्यैष यज्ञो (यज्ञातिशयो) देवलोकमेवाभिप्रेति, तदनूची दक्षिणा यां ददाति सा—एति। दक्षिणामन्वारभ्य यजमानः।"

(शत० ४।३।४।५–६–७) इति।

—❀—
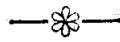
२६—जीवं रुदन्ति विनयन्त्यध्वरं दीर्घामनुप्रसितं दीध्युर्नरः।
वामं पितृभ्यो य इदं समीरिरे मयः पतिभ्यो जनये परिष्वजे।

—अथर्व० १४।१।४६।

"जो मनुष्य पत्नियों के जीवन के लिए रोते हैं, अर्थात् जो स्त्रियों के अभाव को दुःखमय समझते हैं, उनकी दुर्दशा पर आंसू बहाते हैं, यज्ञ में उनको नियुक्त करते हैं, जो उनको कभी पीड़ा नहीं पहुँचाते है, जो प्रेमपूर्वक उनका आलिङ्गन करते हैं, एवं जो पितरों के लिए श्रेष्ठ सन्तान उत्पन्न करते हैं, ऐसे पतियों के लिए पत्नियाँ सदा सुखद रहती हैं"।

इस मन्त्र ने प्रजोत्पत्ति को **पितृऋण**-परिशोध का कारण बतलाया है। दूसरे शब्दों में पितर-प्राण की सन्तुष्टि के लिए संतति उत्पन्न करना मनुष्य का कर्त्तव्य बतलाया गया है, जैसा कि आगे की **"ऋणमोचनोपायोपनिषत्"** में विस्तार से बतलाया जाने वाला है।

~~~~~~~~

अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है। उदाहरण के लिए उक्त मन्त्र पर्याप्त हैं। विशेष जिज्ञासुओं को **ऋक्संहिता** के १।४२।५,—१।७१।१२,—१।१०६।३,—१।१०९।३,—१।१०९।७,—
~~~~~~~~

१।११६।४,—२।५।१,—३।५५।२,—४।१।१३,—४।२।१६,—४।४२।८,—५।४७।१,—६।२१।८,—६।२२।२,—६।४६।१२,—६।४६।१०,—इत्यादि स्थलों के पढ़े हुए पितर शब्द की, **यजु:संहिता** के २।७,—२।३१,—२।३३,—२।३४,—३।५५,—५।११,—६।१,—७।४६,—८।५८,—१२।४५,—१४।२६,—१६।११,—१६।३७,—१६।४५,—१६।४७,—१६।५०,—१६।५३,—१६।५४,—१६।६६,—१६।७०,—२६।४६,—२६।४७,—३८।६,—इत्यादि स्थलों में उपात्त पितर शब्दों की, एवं **अथर्व संहिता** के १।३०।२,—१२।४,—४।१५।५,—५।१८।१३,—५।२४।१४,—५।२४।१५,—५।३०।११,—५।३०।१२,—६।४६।१,—६।७१।२,—६।११६।२,—६।१२०।३—७।४१।२,—१०।१०।२६,—११।७।२७,—१२।१।३२,—१४।१।४६,—१५।७।२,—१८।१।४५,—१८।१।४६,—इत्यादि स्थलों के पितर शब्दों की मीमांसा करनी चाहिए। इन सब प्रकरणों का बिना किसी मताभिनिवेश के शुद्ध हृदय से यदि आप विचार करेंगे, तो आपको यह मान लेने में कोई आपत्ति न होगी कि, पितर एक तत्त्वविशेष है, उसकी स्थानभेद से अनेक अवस्थाएँ हो जाती हैं। प्रेतपितर के निमित्त यथाविधि दिया हुआ स्वधा अन्न अवश्य ही श्रद्धासूत्र के द्वारा अतिशयरूप से उसकी तृप्ति का कारण बन जाता है। प्रयत्न सहस्रों से भी आप उपर्युक्त स्थलों में आये हुए स्वधा–अन्न–दक्षिणा–जलतर्पण आदि कर्म्मों के फलभोक्ता पितर शब्दों को जीवित पितरपरक नहीं लगा सकते। हाँ, अभिनिवेश का उत्तर न अद्यावधि कोई दे सका, एवं न भविष्य में ही ऐसे महानुभावों के मनोरञ्जन की कोई आशा है।

संहितोक्त पितर शब्द के कुछ उदाहरण पाठकों के सम्मुख उपस्थित किए गए। अब देखना यह है कि, वेद के ब्राह्मण [भाग ने इस सम्बन्ध में अपने क्या विचार प्रकट किए हैं। निम्नलिखित ब्राह्मण वचनों पर आप भी विचार कीजिए, और फिर निष्पक्ष दृष्टि से पितृस्वरूप के सम्बन्ध में अपना निर्णय प्रकट कीजिए।

ब्राह्मणभागोक्तप्रामाण्यवाद—

१—"सोऽसुरान् सृष्ट्वा पितेवामन्यत, तदनु पितॄनसृजत, तत्पितॄणां पितृत्वम्"

— तै० ब्रा० २।३।८।२

"उसने असुरों को उत्पन्न कर (अपने आपको) पिता के सदृश समझा, असुरों को लक्ष्य में रख उसने पितरों को उत्पन्न किया, यही पितरों का पितृत्व है।" ऋषिप्राणमूर्ति स्वयम्भू से ही आपोमय परमेष्ठी का विकास होता है। परमेष्ठी के अप्तत्त्व भृगु एवं अङ्गिरा भेद से दो भागों में विभक्त है। इनमें भृगु की अप्–वायु–सोम, ये तीन अवस्था है। इनमें अप्तत्त्व के आधार पर स्वयम्भू **असुरसृष्टि** करते हैं,

सोमतत्त्व के आधार पर **पितरसृष्टि** का विकास होता है। मध्यस्थ वायु **गन्धर्वसृष्टि** की मूल प्रतिष्ठा है। यही दोनों का विभाजक है। सोम अप् की ही अवस्था विशेष है, इसी अभिप्राय से "**तदनुपितृनसृजत**" यह कहा है।

—**—

२—"अग्निमुखा एव तत् पितृलोकाज्जीवलोकमभ्यायन्ति" —शत० १३।८।४।६

"(**वे पितर) अग्निमुख बन कर ही पितृलोक से जीवलोक की ओर आते हैं।**" "**अग्निर्वै पथोऽतिवोढा, स एनानतिवहति**" (शत० ३।८।४।६) के अनुसार अग्नि ही सौम्य प्राणात्मक पितरों का वहन करने वाला है। **पञ्चाग्निविद्या** के अनुसार पितर प्राणमय श्रद्धातत्त्व सर्वप्रथम दिव्य आदित्याग्नि में परिणत होता हुआ आगे जा कर क्रमशः पर्जन्य-पार्थिव-पुरुष–शोणित इन अग्नियों के सम्बन्ध से सोम–वृष्टि-अन्न-शुक्र-रूप में परिणत होता हुआ अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित होता है—(देखिए छान्दोग्य उ० ५ अ० ४,५,६,७,८,९ खण्ड) दूसरे शब्दों में एक ही अग्नि **आदित्य–पर्जन्य–पार्थिव–पुरुष–योषित्**, इन पाँच भागों में विभक्त होकर **श्रद्धा–सोम–वृष्टि–अन्न–रेत**, इस प्रकार पञ्चधा विभक्त सोमतत्त्व का अतिवहन करता है। श्रद्धामय चान्द्रलोक में प्रतिष्ठित इन्हीं अग्नियों के आधार पर अग्नि को मुख (अग्रणी) बना कर ही पितरप्राण स्वलोक से जीवलोक स्थानीय इस धरातल पर प्राणी शरीर में प्रतिष्ठित होता हैं, यही तात्पर्य है।

—❀—

३—"दक्षिणसंस्थो वै पितृयज्ञः" —कौ० ब्रा० ५।७

"**पितर दक्षिण दिशा में प्रतिष्ठित रहने के कारण "दक्षिणसंस्थ" कहलाते हैं।**" सौम्यप्राण ही पितर है, यह निर्विवाद है। यह सौम्य ऋत प्राण उत्तर दिशा में उक्थ रूप से रहता हुआ अर्क रूप से उसी प्रकार निरन्तर दक्षिण दिशा की ओर जाया करता है, जैसे कि दक्षिण दिशा में उक्थरूप से प्रतिष्ठित ऋताग्नि अर्करूप से निरन्तर उत्तर दिशा की ओर आया करता है। उत्तर से आने वाले सौम्य प्राणरूप पितर की अन्तिम विश्राम भूमि दक्षिणा दिक् ही है। यदि कोई व्यक्ति उत्तर दिशा की ओर मस्तक करके सोता है, तो ब्रह्मरन्ध्र से प्रविष्ट होने वाले आयुःस्वरूप–समर्पक सौर इन्द्र प्राण पर इस पितर प्राण का आघात होता है। जाता हुआ पितर इसके जीवनीय पितरों को भी निकाल ले जाता है। इसी आधार पर "**नोदीचीनशिराः शयीत**" इत्यादि रूप से उत्तर दिशा की ओर मस्तक कर के सोने का निषेध है।

—*—

४—"अन्तर्हितो हि पितृलोका मनुष्यलोकात्"—तै० ब्रा० १।६।८।६

"**पितृलोक मनुष्यलोक से व्यवहित है ।**" चन्द्रमा स्वर्ग एवं नरक का विभाजक माना गया है। चन्द्रमा से उत्तर का आकाश स्वर्ग प्रदेश है, दक्षिणाकाश नरक प्रदेश है। ये दोनों ही भाग दो-दो भागों में विभक्त हैं। उत्तर प्रान्त में ध्रुव प्रदेश यावत् प्रदेश **देवस्वर्ग** है, आगे **ब्रह्मलोक** है। दक्षिणाकाश में शनैश्चरपर्य्यन्त **पितृस्वर्ग** है, शनैश्चर के उस पार का अन्धकारमय प्रदेश **नरकलोक** है, जैसा कि "**आत्मगति-विज्ञानोपनिषत्**" में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। पृथिवीलोक मनुष्यलोक है। त्रिविध पितृलोकों में से पितरप्राण-प्रधान '**द्यौ**' नाम का पितृलोक इस मनुष्यलोक से वास्तव में बहुत व्यवहित (दूरी पर) है।

—❀—
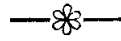
५—"तिर इव वै पितरो मनुष्येभ्यः" —शत० २।४।२।२१

"**पितर मनुष्यों की दृष्टि से छिपे हुए से हैं ।**" पितर प्राणतत्त्व है। प्राणतत्त्व का अनुमान हो सकता है, इसे चर्म्मचक्षु से नहीं देखा जा सकता। हम यह जानते हैं कि, शुक्र में प्रतिष्ठित पितर प्राण ही हमारे भौतिक शरीर की प्रतिष्ठा है, यही शक्तिरूप से (ऊर्क् रूप से) अनुभव में आता है, एवं यही प्रजातन्तु-वितान का प्रवर्त्तक है। इन सब कारणों से तो हम इसे परोक्ष नहीं मान सकते, साथ ही में प्राणमय होने से चर्म्मचक्षु से इसका प्रत्यक्ष करने में असमर्थ होते हुए हम इसे प्रत्यक्ष भी नहीं कह सकते। इसी प्रत्यक्षाप्रत्यक्षभाव को लक्ष्य में रखकर श्रुति ने केवल "**तिरः पितरः**" न कह कर "**तिर इव वै पितरः**" यह कहा है।

—❀—
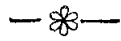
६—"रात्रिः पितरः" —शत० २।१।३।१

"**रात्रि पितर है ।**" पिता शब्द का अर्थ है—पालक, रक्षक, भरण-पोषण करने वाला। साधारण मनुष्यों ने **सूर्य्य** को पिता समझ रक्खा है। परन्तु पितृस्थानीया वास्तव में **रात्रि** है। सूर्य्य अहः काल में अपनी रश्मियों से हमारे प्राण खेंचा करता है—(देखिए प्रश्नोपनिषत् २।७)। सूर्य्य के रश्म्याकर्षण से, एवं अन्यान्य कर्म्मों में रत रहने से दिन में हमारे शरीर का जो प्राण (शक्ति) खर्च होता है, वह रात्रि में हमें मिल जाता है। रात्रि क्या है, **दात्री** है—(रा दाने)। रात्रि हमारी विश्राम-भूमि है। पिता सूर्य्य ही है, माता रात्रि ही है। सन्तान का पोषण माता के क्रोड़ में ही होता है, पिता तो शासक है। पिता का पालकधर्म्म इस मातृस्वरूपिणी रात्रि से पूर्ण होता है। कारण इसका वही सौम्य पितरप्राण है। दिन में सूर्य्य की कृपा से पोषक सोम अग्निगर्भ में रहता है, अतएव दिन को **आग्नेय** कहा जाता है। रात्रि में निशानाथ चन्द्रमा के अनुग्रह से सोम का साम्राज्य रहता है, अतः रात्रि को **सौम्या माना** गया है। इसी सौम्य पितरप्राण के साथ अभिन्न भावापन्ना रात्रि "**पितर**" शब्द से व्यवहृत की गई है।

७—"तत्तमसः पितृलोकादादित्यं ज्योतिरभ्यायन्ति" —शत० १३।८।४।७

"(ऋत्विक् लोग "उद्वयं तमस०" इत्यादि मन्त्र के द्वारा) **उसे (यज्ञात्मा को) तमःप्रधान पितृलोक से आदित्यरूप ज्योतिर्लोक (देवलोक) की ओर लौटाते हैं।**" दक्षिणायन भाग **पितृयाण** है, उत्तरायण भाग **देवयान** है। देवयान में आदित्यज्योति की प्रधानता है, पितृयाण में रात्रिसोम का प्रमुत्त्व है। अतएव पितृलोक को तमो रूप, एवं आदित्य को ज्योतिः शब्द से व्यवहृत किया गया है।

—❀—
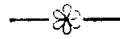
८—"अवान्तरदिशो वै पितरः" —शत०१।८।१।४०

"**अवान्तर दिशाएँ पितर हैं, किंवा अवान्तर दिशाओं में पितर रहते हैं**"। नियतभाव को **सत्य** कहा जाता है, अनियतभाव को **ऋत** कहा जाता है। **पूर्व—पश्चिम—उत्तर—दक्षिण—ऊर्ध्व—अधः—** यह ६ दिशायें सर्वथा नियत हैं, इन्हीं ६ओं के आधार पर आगमोक्त **पूर्वाम्नाय—पश्चिमाम्नाय—उत्तराम्नाय—(पञ्चमकारात्मक वाममार्ग)—दक्षिणाम्नाय—(पञ्चदकारात्मक स्मार्त्तमार्ग)—ऊर्ध्वाम्नाय—योगाम्नाय—अधराम्नाय—(अघोराम्नाय)** यह ६ आम्नाय (मार्ग) प्रतिष्ठित हैं। नियतभाव के कारण हम इन दिशाओं को अवश्य ही "**सत्य**" कहने के लिए तय्यार हैं। उत्तर पूर्व के मध्य में **ईशानकोण,** पूर्व दक्षिण के मध्य में **आग्नेयकोण**, दक्षिण पश्चिम के मध्य में **नैर्ऋतकोण**, एवं पश्चिमोत्तर के मध्य में **वायव्यकोण** है। यही चार अवान्तर दिशाएँ हैं। इनका कोई अपना नियत स्वरूप नहीं है, अपितु पूर्वादि चार प्रधान नियत दिशाओं के आधार पर इन अनियत भावों का स्वरूप सम्पन्न होता है। दूसरे शब्दों में चार प्रधान (भुजा-स्थानीय) दिशाओं के अतिरिक्त सम्पूर्ण प्रान्त भाग अवान्तर दिशाएँ हैं। जिसे लोकभाषा में **बचाखुचा** (शेष भाग) कहते हैं, ठीक उसी भाव के लिए '**अवान्तर**' शब्द प्रयुक्त हुआ है। प्रधान चार दिशा हैं, गौणभाग अवान्तर है। यही इसका ऋतभाव है। अग्नि सत्य है, सोम ऋत है। ऋत सौम्य तत्त्व ही पितर है। इसी विज्ञान के आधार पर श्रुति ने अवान्तर दिशाओं को पितर कहा है।

—❀—
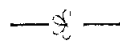
९—"अध इव हि पितृलोकः" —शत० १४।६।१।१०

"**पितृलोक नीचा सा है**"। यज्ञविद्या के सम्बन्ध में आत्मवित् **विदेह जनक** के "**कत्ययमद्याध्वर्यु रस्मिन्यज्ञे आहुतीर्होष्यति ? इति**" (याज्ञवल्क्य ! यह अध्वर्यु इस यज्ञ में कितनी आहुति डालेगा ?) यह प्रश्न करने पर भगवान् **याज्ञवल्क्य** उत्तर देते हैं—"**तिस्र" इति**" (तीन आहुतियाँ)। आगे जाकर—"**कतमास्तास्तिस्र" इति ?**" (वे तीन आहुतियाँ कौनसी हैं ?) यह प्रश्न करने पर याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं—राजन् ! **जो आहुतियाँ अग्नि में हुत होकर ऊपर की ओर प्रज्ज्वलित होती हैं, जो हुत**

होकर न नीचे जाती, न ऊपर जाती, जो आहुतियाँ नीचे शयन करती हैं, (ये ही तीन आहुतियाँ हैं)। "**किं ताभिर्जयति" इति ?**" (इन तीनों से क्या-क्या लाभ होता है ?) इस प्रश्न के समाधान में मुनि कहते हैं—**पहिली से देवलोक, दूसरी से मनुष्यलोक, तीसरी से पितृलोक प्राप्त होता है"**। इन तीनों में देवलोक एवं मनुष्यलोक का तो सूर्य्य एवं पृथिवी रूप से हमें प्रत्यक्ष हो रहा है। परन्तु तीसरा पितृलोक अविदित है। इसी तीसरे लोक का परिचय कराने के अभिप्राय से—**अध इवही पितृलोकः**" यह कहा गया है। **पानी—सोम—इन्द्र** ये तीनों तत्त्व क्रमशः **असुर—पितर—देवता** इन तीनों के अधिष्ठाता हैं। इन्द्रात्मक सौरलोक देवलोक है। यह सर्वथा प्रकाशित है। अबात्मक पाताललोक असुरलोक है—**यूयं प्रयात पातालम्**"। यह सर्वथा अप्रकाशित है। सोमात्मक सान्ध्यलोक **पितरलोक** है। यहाँ न सर्वथा प्रकाश है, न एकान्ततः अन्धकार है। बिलकुल उजाला देवस्थान है, बिलकुल अन्धेरा असुरस्थान है, पर्वत कन्दराओं जैसा प्रकाशाप्रकाश-मिश्रितस्थान पितरस्थान है। दूसरे शब्दों में ऊर्ध्वस्थान देव प्रधान है, अधःस्थान असुरप्रधान है। उभयात्मक स्थान पितरप्रधान है। इसी मिश्रणावस्था को सूचित करने के लिए श्रुति ने "**अधः**" न कह कर "**अध इव**" कहा है।

—**—

१०—"अन्तरिक्षं तृतीयं पितॄन यज्ञोऽगात्" —ऐ० ब्रा० ७।५।

"**यह यज्ञ तीसरे अन्तरिक्ष में (रहने वाले) पितरों की ओर गया**। यहाँ अन्तरिक्ष शब्द द्युलोक का वाचक है। भूपिण्ड-सूर्य्यपिण्ड के मध्य का अन्तरिक्ष पहिला द्युलोक है। संवत्सरात्मक सूर्य्य दूसरा द्युलोक है। एवं सूर्य्य से ऊपर का परमेष्ठी तीसरा द्युलोक है। "**तृतीयस्यां वै इतो दिवि सोम आसीत्**" (शत० ४।१) के अनुसार इसी पारमेष्ठ्य लोक में सोम तत्त्व प्रतिष्ठित है। द्युलोक में रहने वाला सोमात्मक प्राण ही पितर है।

—❀—

११—"अर्द्धमासा वै पितराऽग्निष्वात्ताः" — तै० ब्रा० १।६।८।३।

'**पक्षरूप अर्द्धमास अग्निष्वात्ता नामक पितर हैं**'। शुक्लपक्षों में सोमतत्त्व अग्निगर्भ में रहता है। दूसरे शब्दों में शुक्लपक्षगत सौम्य पितर अग्नि द्वारा खाए हुए रहते हैं, अतएव इन पाक्षिक पितरों को "**अग्निष्वात्ता**" कहा जाता है।

—❀—

१२—"अथ ये दत्तेन पक्वेन लोकं जयन्ति ते पितरो बर्हिषदः" —शत० २।६।१।७।

"जो दिए हुए पक्व अन्न से लोक जीतते हैं, वे पितर बर्हिषत् हैं" । एक मास में चान्द्र-सोम का एक पिण्ड परिपक्व हो जाता है । अतएव मासात्मक पिण्डभागस्थ पितरों को बर्हिषत् कहा जाता है । केवल अग्नि से भी पिण्ड नहीं बनता, केवल सोम से भी पिण्ड नहीं बनता । शुक्लपक्ष अग्निप्रधान है, कृष्णपक्ष सोमप्रधान है । दोनों का समन्वित रूप ही मासात्मक पिण्ड है । पदार्थ विद्या के अनुसार पदार्थ **उष्ण—शीत—अनुष्णाशीत** भेद से तीन भागों में विभक्त हैं । अग्नि उष्ण पदार्थ है, सोम शीत पदार्थ है, दोनों का समन्वित रूप **दर्भ** है । यही **बर्हि** है । बर्हि शब्द संकेत भाषा के अनुसार अनुष्णाशीतभाव का वाचक है । ऊष्माप्रधान सूर्य्य अग्नि है, शीतप्रधान शीतांशुचन्द्रमा सोम है, उभयप्रधान भूपिण्ड **बर्हि** है— **"अयं वै लोको बर्हिः"** (शत० १।८।२।११)—**"ओषधयो वै बर्हिः"** (ऐ० ब्रा० ५।२८) । भूपिण्ड वास्तव में न गरम है, न ठंडा । इनमें से आग्नेय पदार्थों के आरम्भक वे ही पितर **अग्निष्वात्ता** नाम से, सौम्य पदार्थों में रहने वाले **'सोमसत्'** नाम से, एवं उभयात्मक पदार्थों में रहने वाले पितर उक्त परिभाषानुसार **बर्हिषत्** नाम से प्रसिद्ध है । मासपिण्ड उभयात्मक है, अतः मासात्मक पितरों को हम अवश्य ही बर्हिषत् कह सकते हैं । पिण्ड ही **"पक्व"** पदार्थ कहलाता है । पूर्वश्रुति ने पक्व शब्द से भी इसी पिण्डभाव की ओर संकेत किया है । अपि च **"मासा वै पितरो बर्हिषदः"** (तै०ब्रा० १।६।८।३) इत्यादि रूप से स्पष्ट ही श्रुति ने अग्नि सोम समन्वित, अतएव पिण्डात्मक मासों को बर्हिषत् शब्द से व्यवहृत किया है ।

—**—

१३—"ये वा अयज्वानो गृहमेधिनः, ते पितरोऽग्निष्वात्ताः" —तै० १।६।६ ।

"घर में रहने वाले (अतएव) जो पितर अयज्वान हैं, वे पितर अग्निष्वात्ता हैं" । भूपिण्ड से सम्बन्ध रखने वाले अग्निगर्भ में प्रतिष्ठित सौम्य पितर अग्निष्वात्ता हैं । **"यथाग्निगर्भा पृथिवी तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिता"** (यजुः····संहिता····) के अनुसार भूपिण्ड अग्निमय है । भूपिण्ड स्वरूप सम्पादक अन्नादाग्नि भूरूप गृह (घर) का अधिष्ठाता होने से **"गृहपति" "गृहमेधी"** (मेधृ संगमने) इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है । यही अन्नादाग्नि अन्नरूप सोम को खाने की शक्ति रखता है, जैसा कि पूर्व की **प्राणात्मोपनिषत्** में कहा जा चुका है । दिव्य पितर प्राण का–(जो कि अहोरात्र–मास–अयन–संवत्सर भेद से अनेक भागों में विभक्त है) आध्यात्मिक पितर प्राण के साथ योग कराना ही **पितृयाग, किंवा पिण्डपितृयज्ञ** है । यज्ञ का प्रधान सम्बन्ध दिव्य पितरों के साथ ही है । अतएव मासात्मक बर्हिषत् पितरों को, तथा साम्वत्सरिक पितरों को ही—**"संवत्सरो वै सौमः पितृमान्" "संवत्सरमेव तद्यजति" "पितॄन् बर्हिषदो यजति" "येवै यज्वानस्ते पितरो बर्हिषदः"** (तै० ब्रा० १।६।६।५–६) इत्यादि रूप से **"यज्वान"** कहा जाता है । पार्थिव पितर तो हम पार्थिव प्राणियों में अपने आप ही सङ्गत रहते हैं । शरीररूप गृह के यही पति हैं । साथ ही में ये अग्नि द्वारा भुक्त होने से **"अग्निष्वात्ता"** नाम से भी प्रसिद्ध हैं । अतएव-श्रुति ने इनको **"अयज्वानः"** कहा है । जो बुद्धिमान् अनग्निष्वात्तादि शब्दों से जीवित पितादि का ग्रहण करते हैं, उनके मतानुसार तो कोधी इन अग्निष्वात्ता पितरों का कोई सत्कार नहीं करना चाहिए ।

१४—"यानग्निरेव दहन्त्स्वदयति ते पितरोऽग्निष्वात्ताः"—शत० २।६।१।७।

"जिन पितरों को अग्नि ही बड़े स्वाद से खाता है, वे पितर अग्निष्वात्ता हैं"। शरीरस्थ पितर-प्राण शरीर आमाद्यात् अग्नि द्वारा भुक्त हैं, दाहकाल में क्रव्यादाग्नि द्वारा प्रेतात्म-शरीर के पितर भुक्त हैं। दोनों अवस्थाओं से युक्त गृहमेधी अयज्वा पितर ही अग्निष्वात्ता हैं।

—**—

१५—"तन्मध्येऽग्निं समादधाति। पुरस्ताद्वै देवाः प्रत्यञ्चो मनुष्यानभ्युपावृत्ताः। तस्मात्–तेभ्यः प्राङ् तिष्ठन् जुहोति, सर्वतः पितरः। अवान्तर दिशो वै पितरः, सर्वत इवहीमा अवान्तरदिशः" —(शत० २।६।१।११)

"मध्य में अग्नि को प्रतिष्ठित करता है। पूर्व से पश्चिम की ओर देवता लोग मनुष्यों के समीप आए हैं। इसलिए इनके लिए पूर्वाभिमुख बैठ कर आहुति दी जाती है, एवं पितरों के लिए चारों ओर से आहुति दी जाती है। अवान्तर दिशाएँ ही पितर हैं, चारों ओर ही अवान्तर दिशाएँ हैं"। आप कहते हैं, जीवित पितरों को भोजन कराओ, श्रुति कहती है पितरों के लिए अग्निकुण्ड में चारों ओर से आहुति दो। कहिए आपको प्रमाण समझें, अथवा श्रुति कथन का समादर करें?

—**—

१६—"तृतीये वा इतो लोके पितरः" —(तै० ब्रा० १।३०।१०।५।)

"यहाँ से तीसरे लोक में पितर हैं।" तीसरा लोक परमेष्ठी है, यही सोमलोक है, सौम्यप्राण ही पितर है, जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है।

—**—

१७—"मासि मासि पितृभ्यः क्रियते"—(तै० ब्रा० १।४।६।१।)

"महिने-महिने में पितरों के लिए (श्राद्धकर्म्म) किया जाता है।" इस वचन का स्पष्टीकरण आगे देखिए।

—**—

१८—"अथैनं पितरः प्राचीनावीतिनः सव्यं जान्वाच्योपसीदन्। तानब्रवीत्-मासि-मासिवोऽशनम्, स्वधावः, मनोजवो वः, चन्द्रमा वो ज्योतिः"
—(शत० २।१।३।३१।)

"इसके अनन्तर प्राचीनावीती बन कर अपने वाम जानू को गिरा कर इसकी ओर बैठें । इन पितरों को उसने (प्रजापति ने) कहा महिने-महिने में तुम्हारा भोजन होगा, स्वधा तुम्हारा आत्म-स्वरूप होगी मनोवेग तुम्हारा व्यापार होगा, चन्द्रमा तुम्हारी ज्योति होगी ।" इस वचन का ब्राह्मण प्रतिपादित **दायविभागाख्यान** से सम्बन्ध है । इस आख्यान की वैज्ञानिक उपपत्ति आगे के प्रकरणों में स्पष्ट होगी । यहाँ विषय सङ्गति के लिए केवल शब्दार्थ जान लेना ही पर्य्याप्त होगा । चन्द्रमा पितर प्राण की **आवास भूमि** कहलाती है । चन्द्रमा का अधोभाग सदा पृथिवी की ओर अनुगत रहता है, ऊर्ध्वभाग सदा परमेष्ठी के अनुगत रहता है । परमेष्ठी पितर की **प्रभव भूमि** है । इसके सम्बन्ध से चन्द्रमा के ऊर्ध्वभाग में ही पितर प्राण की प्रधानता रहती है ।—**"विधूर्ध्वभागे पितरोवसन्ति ।"** पितर-प्राण-मूर्ति यह चन्द्रमा भूपिण्ड के चारों ओर परिक्रमा लगाता है । इसी परिक्रमा से शुक्ल–कृष्ण पक्षों का उदय होता है । शुक्ल-पक्ष में सोम द्वारा तन्मय पितरों का सौर देवताओं के साथ भोग रहता है, अतएव इस पक्ष में पितर प्राण का हमारे साथ सम्बन्ध नहीं होने पाता । कृष्ण-पक्ष में चान्द्रप्राण भूपिण्ड पर आता है । इसमें भी अमावस्या को (जबकि सूर्य्य-चन्द्रमा का संगम होता है) पितर अति मात्रा में यहाँ आता है—**"इहैव लोके अमा (सह) वसति तस्मादमावास्या नाम"** । यही पितरों का मध्याह्न है, पूर्णिमा इन की अर्द्धरात्रि है । फलतः पितृश्राद्ध अमावस्या में ही विहित है । इस प्रकार श्राद्धान्न का इनके साथ मास-मास में ही सम्बन्ध होता है । क्या जीवित पितर महिने में एक बार खा कर जीवन धारण कर सकते हैं ? पितर प्राण सोम प्रधान होने से ससंग है । यह अन्तर्य्याम सम्बन्ध से ही शरीर में प्रतिष्ठित रहता है, अतएव इन्हें "स्वधा" कहा गया है । चन्द्रमा मन का अधिष्ठाता है, अतएव मनोजव इनका व्यापार माना गया है । चन्द्रमा ही इनकी वास्तव में ज्योति है ।

—**—

१९—"स यत्रोदङ्ावर्त्तते–देवेषु तर्हि भवति, देवांस्तर्ह्यभिगोपायति । अथ यत्र दक्षिणावर्त्तते–पितृषु तर्हि भवति, पितॄंस्तर्ह्यभिगोपायति ।।

—(शत० २।१।३।३)

"जब **(दृश्यमण्डल के अनुसार) परिक्रमा लगाते-लगाते सूर्य्य उत्तरायणानुगामी बनता है, उस काल में वह देवमण्डल में प्रतिष्ठित होता है, उस काल में यह देवताओं की रक्षा करता है । अनन्तर जब यह दक्षिणायन की ओर लौटता है तो उस समय यह पितरों में प्रतिष्ठित रहता है, एवं उस दक्षिणायन काल में पितरों की रक्षा करता है"** यदि पितर सौम्य हैं, तो देवता आग्नेय हैं । दक्षिणायन काल में पितर-प्राण का प्रभुत्व रहता है, एवं उत्तरायणकाल में देव-प्राण का साम्राज्य रहता है । उक्त श्रुति का **स्पष्टीकरण** पितृनिरूपण में होने वाला है ।

—&—

२०—"पितृलोकः सोमः"—(कौ० ब्रा० १६।५)

"पितृलोक सोम (मय) है" । परमेष्ठी एवं चन्द्रमा यह दोनों ही पितृलोक हैं। इन दोनों में से परमेष्ठी में **ब्रह्मणस्पति** नाम का पवित्र सोम प्रतिष्ठित है, यही **श्रोत्रेन्द्रिय** का अधिष्ठाता है। चन्द्रमा में **भास्वरसोम** प्रतिष्ठित है, यही **मन** का अधिष्ठाता है।

—❀—

२१—"सम्वत्सरो वै सोमः पितृमान्"—तै० ब्रा० (१।६।८।२)

सम्वत्सरात्मक सोम पितरप्राणयुक्त होने से पितृमान् है" । पूर्व में हमने बतलाया है कि, सोम ऋततत्त्व है, अग्नि सत्यतत्त्व है। ऋत पूर्वावस्था है, सत्य उत्तरावस्था है। ऋत आधार है, सत्य आधेय है। **"ऋते भूमिरियंश्रिता"** । यद्यपि आधे सम्वत्सर में सोम की, एवं आधे सम्वत्सर में अग्नि की प्रधानता है, परन्तु आधारापेक्षया सम्पूर्ण सम्वत्सर में सोम की व्याप्ति मान ली जाती है। इसी आधार पर सोम को सम्वत्सरमूर्ति मानते हुए इसे पितृमान बतलाया है।

—❀—

२२—"षड्वा ऋतवः पितरः—(शत० ६।४।३।८)

"वसन्त-ग्रीष्म-वर्षादि ६ ऋतुएँ पितर हैं" । **"अग्नीषोमात्मकं जगत्"** इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण विश्व अग्नि-सोममय है। यह अग्निसोम ६ ऋतुओं में विभक्त है। **वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा**—ये तीन ऋतुएँ अग्निप्रधान हैं, **शरत्-हेमन्त-शिशिर** ये तीन सोम प्रधान हैं। षड्ऋतुसमष्टि ही विश्व की उत्पादिका होने से **"पितर"** स्थानीय है। यहाँ पितर शब्द उत्पादक भाव से सम्बन्ध रखता है, यही तात्पर्य है। इस विषय का विशद विवेचन **"ऋतुपितृविज्ञानोपनिषत्"** में होने वाला है।

—❀—

२३—"ओषधिलोको वै पितरः"—(शत० १३।८।१।२०)

"ओषधिलोक पितर है" । **"ओषध्यः फलपाकान्ताः"** के अनुसार जिस मूल जीव के मूल का फल आने पर नाश हो जाय, वही ओषधि है। जौ-गेहूँ-चावल-उर्द-मूंग आदि अन्नों की यही दशा है। इन सबके पौधे एक बार फल देकर नष्ट हो जाते हैं। इन ओषधियों में सोम की प्रधानता रहती है। कारण इनका निर्म्माण चान्द्रसोम से होता है। अतएव चन्द्रमा को **"ओषधीनां पतिः"** कहा जाता है। ओषधियों में अग्नि गर्भ में रहता है, सोम से इनका शरीर बनता है, अतएव **"ओषं (ऊष्मभावं-अग्निं) धत्ते"** इस निर्वचन से इन्हें ओषधी कहा जाता है। 'ओषधी' ही परोक्ष भाषा में **'औषधि'** है। सौम्यप्राण ही पितर है। भूपिण्ड में पितरप्राण ओषधियों में प्रतिष्ठित रहता है, अतएव श्रुति ने ओषधि को पितृलोक माना है।

२४—"यद् तवः पितरः प्रजापति पितरं पितृयज्ञेनायजन्त तत् पितृयज्ञस्यपितृत्वम्" ।—(तै० ब्रा० १।४।१०।८)

"जो कि पितररूप ऋतुओं ने पिता प्रजापति को पितृयज्ञ से युक्त किया, वही पितृयज्ञ का पितृत्व (पितरप्राणमयत्व) है"। व्यष्टिरूप से वही संवत्सर प्रजापति **"पितर"**: है। समष्टिरूप से वही **"पितर"** है। समष्टिरूप संवत्सर एक है, व्यष्टिरूप संवत्सर ६ हैं, यह ६ ऋतुएँ हैं। संवत्सररूप पिता प्रजापति पार्थिव प्रजा निर्म्माण में विस्रस्त (खर्च) होता रहता है। यह कमी इन्हीं ऋतुओं द्वारा पूरी होती रहती है। पार्थिव ओषधियों के रस उन्हीं ऋतुओं से सम्पन्न होते हैं, निधन काल में इन्हीं ऋतुओं के द्वारा ओषधिरस संवत्सर में सञ्चित होते रहते हैं। सञ्चित होने वाला सौम्यरस पितरप्राणमय ही तो है। पितर-संवत्सर यज्ञ ही पितृयज्ञ है। इस पितृयज्ञात्मक संवत्सर से यदि पितरप्राणमयरस प्रजा निर्म्माण में खर्च ही होता रहता तो एक दिन इस पितृयज्ञ का पितृत्व (पितरप्राणमयत्व) उच्छिन्न हो जाता। परन्तु ऋतुओं द्वारा स्रस्त पितृभाग का संधान होता रहता है, कमी पूरी होती रहती है, यही तो इस पितृयज्ञ के पितृत्व-भाव की प्रतिष्ठा का मुख्य कारण है।

—※—
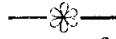
२५—"यमो वैवस्वतो राजेत्याह तस्य पितरो विशः। त इमऽआसतऽइति स्थविराउपसमेता भवन्ति, तानुपदिशति, यजूंषि वेद सोऽयमिति"।

(शत० १३।४।३।६)

"यम देवता वैवस्वत राजा है" यह कहा है, **पितर इस यम की प्रजा है। वह यह बैठे हुए हैं** जो कि स्थविर (पुराने) पितर (यज्ञ में) संगत है। इन्हीं को (लक्ष्य में रखकर अध्वर्यु ने) **"यमो वैः" इत्यादि कहा है। यजुर्वेद इस स्थविर पितर-तत्त्व को जानता है कि वह यह है"**। जिस प्रकार मनुवैवस्वत राजा है, **मनुष्य** इसकी प्रजा है, ऋग्वेद इनका वेद (परिचायक) मनुष्यों का ज्ञाता है। १२ आदित्यों में से **वरुण** नाम का **आदित्य** विशेष राजा है, **गन्धर्व** इसकी प्रजा है, अथर्ववेद इनका ज्ञाता है, विष्णुदेवता सम्बन्धी **सोम** राजा है, **अप्सराएँ** इसकी प्रजा हैं, **आङ्गिरसवेद** इनका ज्ञाता है, **अर्बुद** नाम से प्रसिद्ध काद्रवेय (सुपर्णगायत्री) राजा है, **सर्प** इसकी प्रजा हैं, सर्पविद्या इनका वेद है। **कुबेरवैश्रवण** राजा है, **राक्षस** इसकी प्रजा है, **"देवयजनविद्या"** (भूतविद्या) इनका वेद है। **धान्वअसित** इनका राजा है, **असुर** इनकी प्रजा है, **"माया"** इनका वेद है। **मत्स्य** साम्मद राजा है, **जलचर** इसकी प्रजा हैं, **"इतिहासवेद"** इनका वेद है। **तार्क्ष्यवैपश्यत** राजा है, **पक्षि** इसकी प्रजा हैं, **"पुराण"** इनका वेद है। **धर्म्मेन्द्र** राजा है, **देवता** इसकी प्रजा हैं, **सामवेद** इनका वेद है। **इसी प्रकार यमवैवस्वत राजा है, पितर** इसकी प्रजा है, **यजुर्वेद** इनका वेद है।

राजा (क्षत्रम्)	प्रजा (विशः)	वेदः (वीर्य्यः)	अहानि
१–मनुर्वैवस्वतः——	मनुष्याः ——→	ऋग्वेदः——	प्रथमम्
२–यमो वैवस्वतः——	पितरः ——→	यजुर्वेदः——	द्वितीयम्
३–वरुण आदित्यः—	गन्धर्वाः——→	अथर्ववेदः——	तृतीयम्
४–सोमो वैष्णवः——	अप्सरसः——→	आङ्गिरसवेदः——	चतुर्थम्
५–अर्बुदः काद्रवेयः—	सर्पाः——→	सर्पवेदः——	पञ्चमम्
६–कुबेरो वैश्रवणः—	रक्षांसि——→	देवयजनवेदः——	षष्ठम्
७–असितो धान्वः—	असुराः——→	मायावेदः——	सप्तमम्
८–मत्स्यः साम्मदः—	उदकेचराः——→	इतिहासवेदः——	अष्टमम्
९–तार्क्ष्यो वैपश्यतः—	वयांसि——→	पुराणवेदः——	नवमम्
१०–धर्म्म इन्द्रः——	देवाः——→	सामवेदः——	दशमम्
स एष विराट्प्रजापतिर्दशहोता वा दशाहयज्ञः सर्वेश्वरः सर्वेषां प्रतिष्ठा ।			

जिन पितरों का वेद यजुः है, दूसरे शब्दों में जिनका परिचायक यजुर्वेद है, श्रुति ने उन्हें (**स्थविर**) शब्द से सम्बोधित किया है । सौम्य पितरप्राण का सम्बन्ध परमेष्ठी के साथ है, यह विज्ञ पाठकों को विदित है। परमेष्ठी अप्प्रकृतिक है । इसका विकास प्राणप्रकृति स्वयम्भू से होता है । अव्यक्त स्वयम्भू त्रयी वेदमय है । इसका यजुभाग यत्–जू भेद से प्राण–वाग्रूप है । प्राणव्यापार से यजु का यत्रूप वाक् भाग ही अंशात्मना अब्रूप में परिणत होता है—"**सोऽपोऽसृजतवाच एव लोकात् वागेव साऽसृज्यत**" (शत० ६।१।१....) । यजुवाक् से उत्पन्न यह अप्तत्व भृगु अङ्गिरात्मक है—"आपोभृग्वङ्गिरोरूपम्" (अथर्व.) भृगु की अवस्था विशेष ही सोम है । तन्मय–प्राण ही पितर हैं । इस प्रकार परम्परया यजुरूपा वाक् का पितरप्राण का प्रभवत्व सिद्ध हो जाता है । यजुवाक् ही पितर का आत्मा है, इसी आधार पर "**पितरो वाक्यमिच्छन्ति**" यह कहा जाता है । इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर श्रुति ने कहा है कि **"पितरों का वेद यजु है, यजु ही (यजु का स्वरूप वाक् भाग ही) पितृ–तत्त्व का यथार्थ में परिज्ञाता है"।**

२६—"शरद्धेमन्तः शिशिरस्ते पितरः"—(शत० २।१।३।१)

"शरत्–हेमन्त–शिशिर (यह तीन ऋतुएँ) पितर हैं"। इस वचन का अर्थ पूर्व से गतार्थ है। संवत्सर की अवयवभूता ६ ऋतुओं में अग्नि और सोम का **उद्ग्राभ** (चढ़ाव) **निग्राभ** (उतार) है। शरदादि तीन ऋतुओं में सोम का उद्ग्राभ एवं अग्नि का निद्ग्राभ है, वसन्तादि तीन ऋतुओं में सोम का निग्राभ एवं अग्नि का उद्ग्राभ है। आग्नेय प्राण ही देवता है, अतएव तत् प्रधान वसन्तादि तीन ऋतुओं को देवता कहा जाता है—"वसन्तोग्रीष्मोवर्षाः ते देवाऋतवः" सौम्य–प्राण पितर हैं, अतएव तत् प्रधान शरदादि ऋतुओं को श्रुति ने पितर कहा है। "**षड्वाऋतवः पितरः**" इस पूर्व श्रुति में पितर शब्द उपादान भाव से सम्बन्ध रखता है, जैसाकि उक्त श्रुत्यर्थ निरूपण में कहा जा चुका है, एवं प्रकृत श्रुति में उपात्त पितर शब्द का सौम्यप्राण से सम्बन्ध है।

~~~~~~

२७—"ऋतवः खलुवै देवाः पितरः। ऋतूनेव देवान् पितॄन् प्रीणाति। तान् प्रीतान् मनुष्याः पितरोऽनु प्रपिपत्ते।" (तै० ब्रा० १।३।१०।५)

"**(शरदादि तीनों) ऋतुएँ ही देवरूप पितर हैं। ऋतुरूप देवताओं को ही तृप्त करता है। इन (दिव्य) पितरों के तृप्त होने पर इनका अनुगमन करते हुए मनुष्य तृप्त होते हैं।**" दिव्य एवं मनुष्य भेद से पितर दो प्रकार के हैं। प्राकृतिकनित्यआधिदैविक पितर **दिव्य पितर हैं** यही पितृलोक के अधिष्ठाता हैं। मनुष्य शरीर के उत्क्रान्त कर्म्मात्मा के साथ उत्क्रान्त होने वाला पितरप्राणयुक्त महानात्मा (प्रेतात्मा) मनुष्य पितर है। यह उन दिव्य पितरों की प्रजा है। पितृलोक में पहुँचने के अनन्तर यह प्रेतपितर, किंवा मनुष्य पितर उन ऋतुरूप दिव्य पितरों में अन्वाभक्त (संगत) हो जाते हैं। इनका स्वरूप भी शरदादि ऋतुओं के प्राण से युक्त हो जाता है, फलतः शरत्[१]–हेमन्त[२]–शिशिर[३] यह तीन ही तो दिव्य पितर हो जाते हैं, एवं शरत्[१]–हेमन्त[२]–शिशिर[३] इन तीनों से कृत शरीरी प्रेत-पितर भी त्रिपर्वा बन जाता है। संभूय ६ ऋतु-पितर हो जाते हैं इनमें तीन दिव्य पितरों के लिए तो आरम्भ में तीन आहुतिएँ दी जाती हैं, एवं तीन प्रेत-पितरों के लिए अनन्तर **तीन पिण्ड** दिए जाते हैं। दिव्य पितर **आहुति-भाजन** है, प्रेत-पितर **पिण्ड-भाजन** है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"देवान् वै पितॄन् प्रीतान मनुष्याः पितरोऽनुप्रपिपत्तेः। तिस्र आहुतिर्जुहोति, त्रिर्निदधाति, षट् सम्पद्येत षड्वा ऋतवः।" (तै० १।३।१०।५)

पाठकों को ध्यान रखना चाहिए कि यहाँ ६ ऋतुओं से शरत्–हेमन्त–शिशिर इन तीन ऋतुओं का युग्म ही अभिप्रेत है। तात्पर्य यही है कि वसन्त–ग्रीष्म–वर्षा–शरत्–हेमन्त–शिशिर इन ६ ऋतुओं का
~~~~~~

प्रकृत में कोई सम्बन्ध नहीं है। यहाँ शरदादि तीन ऋतुओं का युग्म ही **"षड्वा ऋतवः"** से अभिप्रेत है। क्यों कि यही ऋतुएँ सोम प्रधान होने से पितर प्राणयुक्त हैं। पाठकों को यह विदित हुआ होगा कि श्रुति ने पितर शब्द से अभिप्राय परलोक गत प्रेतात्मा का ही ग्रहण किया है, साथ ही में यह भी स्पष्ट है कि इनकी तृप्ति के लिए पिण्डदान का विस्पष्टतम **विधान** है, फिर भी जो वेदभक्त पिण्डदान लक्षण श्राद्ध को अवैदिक बतलाने का साहस करते हैं, उनका वेद कौनसा है ? **यह** अविज्ञात है।

२८—निधनम्पितृभ्यः (प्रायच्छत्), तस्माद्‌ु ते निधनसंस्थाः" (जै०उ० १।१२।२)

"(प्रजापति ने दाय विभाग करते समय) निधन (मृत्युभाव) पितरों को सौंपा, अतएव वे निधन संस्थ हैं।" जीवात्मा (तद्युक्त महानात्मा) परलोक में जाने पर ही "पितर" नाम से प्रसिद्ध होता है, उक्त श्रुति इसी अर्थ का समर्थन करती है।

२९—"यनिवैषां तस्मिन्त्संग्रामेऽघ्नस्तान् पितृयज्ञेन समैरयन्त, पितरो वै त आसन्। तस्मात् पितृयज्ञो नाम।" (शत० २।६।१)

"जिनको उस संग्राम में मार डाला था, उन्हें पितृ-यज्ञ से (पितृ-कर्म्म से) पुनः संगत किया, संग्राम में मारे गए वे (परलोकगत) प्राणी पितर ही थे। (इन्हीं के सम्बन्ध से यह यज्ञ) कहलाया।" यह श्रुति भी मृतात्माओं को ही पितर मानती हुई, उनका पितृयज्ञ में सम्बन्ध बतलाती है।

३०—"अपक्षयभाजो वै पितरः" (कौ० ब्रा०.......)

"पितर अपक्षयभाज हैं।" क्षयभाव पितृप्राण का स्वरूपधर्म्म है। सोम-तत्व ही अन्न है। सोम सदा अग्नि का अन्न रहता है। दूसरे शब्दों में सौमान्न सदा क्षयभाव से आक्रान्त रहता है। यही सोम पितरों का आत्मा है, फलतः पितरों का अपक्षय भाजनत्व सिद्ध हो जाता है। अपित्र शरीर महानात्मा की **पितर** संज्ञा मरने के पश्चात् ही होती है, यही पितर का क्षयभाव है। इस दृष्टि से भी इन्हें अपक्षय भाजन माना जा सकता है। श्रुति ने क्षयभाजन कह कर अपक्षयभाज कहा है। 'अप्' शब्द निम्न गति का सूचक है। जिस प्रकार अग्नितत्त्व हृदय से प्रधि की ओर (उत्तरोत्तर विशकलित होता हुआ) जाता रहता है, एवमेव सोम-तत्त्व उत्तरोत्तर संकुचित होता हुआ प्रधि से केन्द्र की ओर आता रहता है। यही सोम का अप्भाव है। अप्भावापन्न सोम नीचे आता हुआ, ऊपर जाते हुए अग्नि में आहुत होता हुआ स्वस्वरूप से क्षीण होता जाता है। यही इसका **अपक्षय भाव है। तद्युक्त पितर** का यही अपक्षय भागत्व है।

३१—"तस्मै (चन्द्रमसे) पूर्वाह्णो देवा अशनमभिहरन्ति मध्यन्दिने मनुष्याः, अपराह्णे पितरः" (शत० १।६।३।१२)

"**उस (चन्द्रमा) के लिए पूर्वाह्ण में देवता भोजन इकट्ठा करते हैं, मध्यन्दिन में मनुष्य एवं अपराह्ण में पितर (अन्न संभरण करते हैं)**।" प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन, सायंसवन भेद से सौर अहर्यज्ञ तीन भागों में विभक्त है। इन तीन सवनों का विभाजक मध्य का विषुवद्वृत्त है। यह विष्वद् रेखा अद्यतन—अनद्यतन की विभाजिका है। यही वृत्त "मध्याह्नरेखा" नाम से प्रसिद्ध है। इसी से मित्र–वरुण–कपाल का स्वरूप सम्पन्न होता है। रात्रि के बारह बजे से दिन के बारह बजे तक का अर्द्ध-कपाल **मित्रमण्डल** है, दिन के बारह बजे से रात्रि के बारह बजे तक का अर्द्धकपाल **वरुण मण्डल** है। मित्र मण्डल **पूर्वकपाल** है, तदवच्छिन्न काल अद्यतन है। वरुणमण्डल **पश्चिम कपाल** है, तदवच्छिन्न काल अनद्यतन है। इससे बतलाना यही है कि मध्याह्न रेखा ही विषुवत् है। इससे पहिले का काल पूर्वाह्ण है, पीछे का काल अपराह्ण है। स्वयं विषुवकाल मध्याह्न है। पूर्वाह्न में अग्नि की प्रधानता है, अपराह्न में सोम का प्रभुत्व है, विषुव में अग्निसोम की समानता है। सोमगर्भित अग्नितत्व **देवता** हैं, अग्निगर्भित सोमतत्त्व पितर है, अग्निसोमसमष्टि मनुष्य है। इसी आधार पर पूर्वाह्ण **देवकाल** है, **अपराह्ण पितृकाल** है, मध्याह्न **मानुष काल** है। भौम औषधिरस पूर्वाह्न में देवताओं द्वारा चन्द्रमा में चित होता है, मध्याह्न में मनुष्यों द्वारा, अपराह्ण में पितरों द्वारा चन्द्रमा की क्षतिपूर्ति होती है। इसी नित्य सिद्ध स्थिति के अनुसार **श्राद्ध कर्म्म अपराह्ण में ही किया जाता है।**

~~~~~~

३२—"यदि नाश्नाति पितृ देवत्यो भवति" (शत० ११।१।७।२)

"इष्टि की इच्छा रखने वाले यजमान को अमावस्या के दिन उपवास करना पड़ता है। यह दिन "**उपवसथाह**" कहलाता है। प्रतिपत् को यजमान इष्टि करने वाला है। इसी संकल्प से प्राण-देवता यजमान के गृहपति अग्नि के समीप व्याप्त हो जाते हैं। इस प्रकार यजन से पहिले ही दिन देवता इसके घर में आ जाते हैं। ऐसी अवस्था में यह आवश्यक हो जाता है कि जब तक इन अतिथि देवताओं को आहुति न दे दी जाय, तब तक यजमान कुछ न खाय। इसीलिए इसे उपवास करना पड़ता है। इस पर श्रुति ने पूर्वपक्ष उठाया है कि यदि अतिथि मर्य्यादा को लक्ष्य में रख कर यजमान कुछ नहीं खाता है तो देवमर्य्यादा का पालन तो हो जाता है, परन्तु पितृमर्य्यादा का उल्लंघन हो जाता है। आज अमावस्या है। चान्द्रसोम आज भूपिण्ड पर व्याप्त है। तद् द्वारा पितरप्राण सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। यदि यजमान कुछ नहीं खाता है तो, "**अशानाया**" (भूख) सूत्र से आकर्षित पितर प्राण अध्यात्म में प्रविष्ट हो जाता है। ऐसी अवस्था में इसका यह देव-कर्म्म "पितृ-कर्म्म" बन जाता है। इस विप्रतिपत्ति को दूर करने के लिए कुछ भोजन करना आवश्यक है। परन्तु भोजन से देवमर्य्यादा का विरोध होता है। ऐसी अवस्था
~~~~~~

में क्या करना ? इसका समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि "**इस दिन ऐसी वस्तु खानी चाहिए, जिसे देवता न खाते हों ।" ऐसी स्थिति में अशनाया के शान्त होने पर पितरप्राण इसके आत्मा में प्रविष्ट नहीं होता, एवं अतिथि मर्य्यादा का उल्लंधन भी नहीं होता ।**" यही "**व्रतोपायनकर्म्म**" है । इससे प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि पितर-प्राण विशेष है, न कि जीवित पितर पितामहादि ।

३३—"अनपहृतपाप्मानः पितरः" (शत० २।१।३।४)

"**पितर अनपहृत पाप्मा है ।**" अग्न्याधान किस समय करना ? इस विषय का निर्णय करते हुए श्रुति ने कहा है कि उत्तरायणकाल में ही अग्न्याधान करना चाहिए । कारण देवता अपहृत पाप्मा हैं, अमृत भावापन्न है । दक्षिणायन काल में अग्न्याधान नही करना चाहिए । कारण पितर मर्त्यभावापन्न होने से अनपहृत पाप्भा (मृत्युरूप पाप्मा से युक्त) है । यदि यजमान इस काल में अग्न्याधान करेगा तो वह यजमान नियत आयु से पहिले ही मर जायगा । इस प्रकार श्रुति ने स्पष्ट शब्दों में पितर का प्रेतात्मा के साथ ही सम्बन्ध माना है ।

३४—"य एवापूर्यतेऽर्धमासः स देवाः योऽपक्षीयते स पितरः" (शत० २।१।३।१)

"**आपूर्यमाण पक्ष (शुक्ल पक्ष) देव रूप है, अपक्षीयमान पक्ष (कृष्ण पक्ष) पितर है ।**" अग्नि-सोम की समष्टिरूप संवत्सर देव-पितृमूर्ति है । वसन्त–ग्रीष्म–वर्षारूप आपूर्यमाण अयन (षण्मासात्मक उत्तरायण काल) देव प्रधान है, शरत्–हेमन्त–शिशिर रूप अपक्षीयमान अयन (षण्मासात्मक दक्षिणायन काल) पितर प्रधान है । शुक्ल-पक्ष देवमय है, कृष्ण-पक्ष पितरमूर्ति है । अहःकाल (दिन) देवमय है, रात्रि पितर है । केवल दिन में भी पूर्वाह्‌ण भाग देवमय है, अपराह्‌णकाल पितरमय है । इस प्रकार महादशा-दशा–अन्तर दशा—प्रत्यन्तर दशा—प्राण दशा—आदि की तरह यह देव पितर प्राण पर्व-पर्व में व्याप्त है । क्या जीवित पितादि ही उक्त काल पर्वों में व्याप्त है ?

३५—"पितृदेवत्यो वै कूपः खातः" (शत० ३।६।१।१३)

"**कूप एवं खड्डे पितृ देवत्य हैं ।**" पाठकों को स्मरण होगा कि हमने पूर्व में प्रकाश का देवता के साथ, अन्धकार का असुरों के साथ सम्बन्ध बतलाया है । पितर इन दोनों की सन्धि में है । अतएव यह प्रकाशिताप्रकाशित रूप होने से छायामय है । छाया में घोर अन्धकार भी नहीं है, आतपरूप प्रकाश भी

नहीं है। छाया में पितर प्राण की ही प्रधानता है, अतएव पितृकर्म्म में पात्र अधोमुख कर दिये जाते हैं। कूप एवं खातों में छाया की प्रधानता है, अतएव इन्हें पितृ देवत्य कहा गया है।

३६—"अथ या रोहिणी. श्येताक्षी सा पितृदेवत्या, यमिदं पितृभ्यो घ्नन्ति"

(शत० २।४।२।९)

"जो रोहिणी (लाल) श्येताक्षी गौ है, वह पितृदेवत्या है, जिसको कि पितरों के लिए (श्राद्धकर्म्म में) मारते हैं।" पितरों के लिए श्राद्धकर्म्म में मांसबलि का विधान है, यह उक्त श्रुति से सिद्ध है। रक्त और श्वेत दो वर्ण पितरों से सम्बन्ध रखते हैं, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जायगा।

३७—"सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरः"—(२।४।२।९)

"पितर सकृत् हैं, पराङ्भाग से आक्रान्त हैं"। देवता और पितर दोनों ही प्राणात्मक हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु दोनों प्राणों के व्यापार में अन्तर है। देवप्राण, प्राणदपानत् भाव से सम्बन्ध रखता है, एवं पितरप्राण केवल अपानत् भाव से सम्बन्ध रखता है। कारण इसका यही है कि अग्नि, विकासशील है, सोम संकोचधर्म्मा है। विकास में गति–आगति दोनों भाव रहते हैं, गतिभाव अपानत् है, आगति भाव प्राणत् है। सौर–रश्मि में आतप छाया की सीमा में आप इन दोनों व्यापारों का साक्षात्कार कर सकते हैं। संकोचभाव के कारण निम्नगतिरूप आगति भावात्मक सोम में केवल अपानत् व्यापार ही होता है, यही पितर का सकृत् भाव एवं पराङ्भाव है। प्राणदपानत् व्यापार में सन्धिभाव से तीन भावों का उदय हो जाता है। इसी आधार पर देवताओं को "त्रिसत्य" कहा जाता है। जहाँ त्रिसत्य देवताओं के लिए तीन बार आहुति दी जाती है, वहाँ सकृत् पितरों के लिए सकृत् (एक बार) ही आहुति दी जाती है।

३८—"ऊमा वै पितरः प्रातः सवने, ऊर्वा माध्यन्दिने, काव्यास्तृतीय सवने"

(तै० सं० ४।४।७)

"ऊमा नाम के पितर प्रातः सवन में, ऊर्वा नाम के पितर माध्यन्दिन सवन में, काव्य नाम के पितर सायं सवन में प्रतिष्ठित हैं"। दिव्य **नान्दीमुख** पितरों का सौर देव–प्रधान ऊमा पितरों के साथ, आन्तरिक्ष्य **पार्वण** पितरों का ऊर्वा पितरों के साथ एवं पार्थिव **अश्रुमुख** पितरों का दिव्य पितरों के साथ सम्बन्ध है।

३९—"एतद्ध वै पितरो मनुष्यलोका आभक्ता भवन्ति, यदेषां प्रजा भवति" ।
(शत० १३।८।१।६)

"इस प्रकार से पितर मनुष्य लोक में संयुक्त होते हैं जो कि इनकी प्रजा होती है" । तात्पर्य यही है कि पिता की शुक्राहुति द्वारा शुक्र में प्रतिष्ठित रहने वाला अष्टाविंशति कल (२८) पितर पुत्र-पौत्र-प्रपौत्रादि में सात पीढ़ी तक वितत होता है। जिस मनुष्य के सन्तान नहीं होती, उस मनुष्य का पितर प्राण सदा के लिए चन्द्रमा में ही प्रतिष्ठित रहता है। उसका सम्बन्ध पृथिवी से टूट जाता है। परन्तु प्रजा द्वारा वह पृथिवी में (अंशात्मना) अवश्य ही अन्वाभक्त रहता है।

४०—"अथ यदेव प्रजामिच्छेत्-तेन पितृभ्य ऋणं जायते। तद्धयेभ्य एतत् करोति, यदेषां सन्तताव्यवच्छिन्ना प्रजा भवति" ।—(शत० १।७।१।४)

"जो मनुष्य प्रजा (सन्तान) की इच्छा करे, इससे पितरों के लिए ऋण हो जाता है। वही (ऋण परिशोध) यह इनके लिए करता है, जो कि इनकी प्रजा सन्तत अव्यवच्छिन्न होती है" । तात्पर्य यही है कि पुत्र अपने पिता से जिस शुक्र का लेता है, इस आरम्भक शुक्र द्वारा पितर-प्राण का यह कर्जदार बन जाता है, यही पितृऋण है। इससे मुक्त होने का उपाय है सन्तान-वितान। प्रजोत्पत्ति ही पितृ-ऋण से मुक्त होने का अन्यतम उपाय है, जैसा कि **ऋणमोचनोपायोपनिषत्** में विस्तार से बतलाया जाने वाला है।

४१—"स्वधो (स्वधा-उ) वै पितृणामन्नम्"—(शत० १३।८।१।४)

"स्वधा ही पितरों का अन्न है" । स्वधा कोई विशेष अन्न नहीं है, अपितु जिस प्रकार तण्डुलान्न (पुरोडाश) देवता के सम्बन्ध से "स्वाहा" कहलाता है, एवमेव वही तण्डुलान्न (पिण्ड) पितरप्राण सम्बन्ध से **"स्वधा"** नाम से व्यवहृत होने लगता है। स्वाहान्न का बहिर्याग भाव से सम्बन्ध है, एवं स्वधान्न का अन्तर्य्याग भाव से सम्बन्ध है। इन सब अन्नों की वैज्ञानिक उपपत्ति आगे के प्रकरणों में बतलाई जाने वाली है।

४२—"ह्रीकाः पितरः"—(तै० ब्रा० १।३।१०।६)

"पितर ह्रीक (लज्जाशील) हैं"। पिण्डपितृयज्ञ में अध्वर्यु दक्षिणाभिमुख बैठ कर पहिले पितरों के लिए पिण्डदान करता है। पिण्डदान करने के अव्यवहितोतरकाल में ही पिण्ड पर से दृष्टि हटा कर पराङ्मुख बन जाता है। कारण इसका यही है कि पितर सौम्य हैं। सोमभाव ही लज्जा की आवासभूमि है। जिस प्रकार सोमगर्भित अग्नि पुरुष का उपादान बनता है एवमेव अग्निगर्भित सोम स्त्री का आरम्भक बनता है। पुरुष आग्नेय है, स्त्री–सौम्या है। इसी सोम की प्रधानता से स्त्री में पुरुष की अपेक्षा से लज्जाभाव अधिक मात्रा में होता है। इसी सौम्यभावमूलक लज्जाभाव को लक्ष्य में रख कर धर्म्म-शास्त्र में भोजन करती हुई स्त्री को देखने का निषेध है। आज पितर इस पिण्डान्न का भोजन करने वाले हैं। पितर सौम्य हैं, फलतः इनका लज्जाशीलत्व सिद्ध हो जाता है।

४३—"पितृणां मघाः"—(तै० ब्रा० १।६।१।२)

"पितरों का नक्षत्र मघा है।" मघा नक्षत्र और हस्त नक्षत्र का परस्पर में घनिष्ट सम्बन्ध है। आकाश में हस्त नक्षत्र दो प्रकार के हैं। एक तो **पञ्चाङ्गुलि युक्त हस्त** के आकार का है, दूसरा बाहू के आकार का है। इसी को **गजच्छाया** कहा जाता है। मघा नक्षत्र पर जब सूर्य्य आता है, तभी इसके साथ गजच्छायारूप इस हस्ते नक्षत्र का योग होता है। यही श्राद्धकाल है। इस काल में पितरप्राण अधिक मात्रा में भूपिण्ड पर आता है। जिस समय सूर्य्य मघा नक्षत्र पर आवे, उस समय छत पर खड़े हो जाइए और आकाश के अद्भुत आश्चर्यप्रद दृश्यों पर दृष्टि डालिए। उसी दाह्य सौम्यप्राण की प्रधानता से इस काल में आकाश में से अनन्त अग्निखण्ड (तारे) गिरा करते हैं।

उपर्युक्त निगम वचनों से स्पष्ट हो जाता है कि पितर तत्त्व अवश्य ही किसी तत्त्व विशेष का वाचक है। वही तत्तत् स्थान विशेष के सम्बन्ध से एवं तत्तत् कर्म्म विशेष के सम्बन्ध से ऋतु-सोम-ऊमा-ऊर्वा आदि विविध नामों से व्यवहृत हो रहा है। इस प्रकरण में प्रधानरूप से हमें **दिव्यपितर-ऋतुपितर-प्रेतपितर** इन तीन पितर–प्राणों का स्वरूप बतलाना है। **"पितर शब्द केवल जीवित पिता पितामहादि का ही वाचक नहीं है, विशेषतः जिन पितरों के लिए श्राद्ध किया जाता है, वे तो जीवित पितर कथमपि नहीं हो सकते, श्राद्ध सम्बन्धी पितर हमारी दृष्टि से परे की वस्तु है, उनका निवास लोकान्तर में है। उन्हीं की तृप्ति के लिए श्रद्धासूत्र द्वारा पिण्डदानादि श्राद्ध कर्म्म किए जाते हैं।"** हमें उक्त प्रमाणों से केवल यही सिद्ध करना था। हमें विश्वास है कि इन प्रमाणों की मीमांसा करने के अनन्तर **"सनातन-धर्म्माभिमत मृतपितर श्राद्धकर्म्म पर अविश्वास का कोई कारण शेष नहीं रह जायेगा।"** जिन महानु-भावों को इसकी प्रामाणिकता में और भी अधिक जिज्ञासा हो उन्हें तत्तद्ब्राह्मणोक्त "पिण्डपितृयज्ञ" प्रकरण देखना चाहिए। कितने ही वेदाभिमानी अपने कल्पित सिद्धान्त की कल्पना का उच्छेद करने वाले पिण्डपितृयज्ञ ब्राह्मणों को प्रक्षिप्त मानते हैं। अतएव हमने मूलसंहिता एवं पितृयज्ञातिरिक्त इतर ब्राह्मण वचनों द्वारा भी इस विषय की पुष्टि का प्रयास किया है।

उचित था कि शास्त्रीय प्रश्न मीमांसा—प्रमाणवाद को यहीं समाप्त कर निरूपणीय विषय का आरम्भ किया जाता । परन्तु सर्वक्षा अप्रस्तुत होने पर भी हम उन ऋषिसन्तानों के सम्बन्ध में प्रसंगागत अपने शोकोच्छ्वास प्रकट करना चाहते हैं, जो कि अहर्निश **वेद** का डिण्डिमघोष करती हुई भी वैदिक साहित्य के मर्म्मार्थ से स्वयं पथभ्रष्ट होती हुई अबोध किन्तु श्रद्धालु मनुष्यों को भी इन वेदसिद्ध साथ ही में अत्यावश्यक कर्म्मों से पथभ्रष्ट बनाती हुई हमारी अन्तर्वेदना का कारण बन रही हैं ।

सनातनधर्म्मी मृत पितरों के लिए श्राद्ध करते हैं, आर्यसमाजी जीवित पितरों का श्राद्ध करते हैं । केवल इतिकर्त्तव्यता में अन्तर है । दोनों की ही दशा आज दयनीय बन रही है । पहिले सनातनधर्म्मियों को ही लीजिए । मृत पितर श्राद्ध को सर्वथा वैदिक मानता हुआ भी सनातन धर्म्मी जगत् आज इस सम्बन्ध में सर्वथा अन्धभक्त एवं पद्धति से एकान्ततः विमुख है । दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि श्राद्ध मानने वाले एवं करने वाले यह धर्म्माभिमानी श्राद्ध न मानने वालों से अधिक लक्ष्यच्युत एवं प्रायश्चित्त के भागी हैं । आज इनकी दृष्टि में **'यदेव विद्यया श्रद्धयोपनिषदा करोति तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति'** इस श्रौत आदेश का कोई मूल्य नहीं है । यह मान लेने एवं कहने में हम जरा भी संकोच नहीं करते कि वर्तमान युग में श्राद्ध पर जो अनास्था देखी जाती है, मृतपितर श्राद्ध को अवैदिक बतलाया जा रहा है, इसका एकमात्र कारण उपपत्ति ज्ञान शून्य इन धार्म्मिकों की धर्म्मविश्रृङ्खलता ही है । इधर हमारे विद्वत् समाज की मनोवृत्तिएँ कैसी हैं, यह भी देखिए ।

जयपुर से प्रकाशित होने वाले संस्कृत साहित्य सम्मेलन के मुखपत्र **संस्कृतरत्नाकर** नाम के मासिक पत्र में तत्प्रकाशक श्रद्धेय म०म० **श्री गिरिधर शर्म्मा चतुर्वेदी जी** ने एक बार **"शास्त्रीयः प्रश्नः विद्वांसो महाभागा निर्णयन्तु—क इमे पितरः ? इति"** इत्यादि रूप से पितृस्वरूप जिज्ञासा प्रकट की थी । लेखक पूज्य शर्म्मा जी की महत्ता से परिचित है । इसे यह विश्वास है कि यदि शर्म्मा जी चाहते तो वे स्वयं ही उक्त प्रश्न का सोपपत्तिक समाधान भी कर सकते थे, परन्तु ऐसा न कर केवल प्रश्नरूप से उक्त विषय को उपस्थित करने का उनका एकमात्र यही अभिप्राय था कि विद्वत् समाज में इस प्रश्न की चर्चा छिड़े, प्रश्नोत्तर परम्परा से धार्म्मिक जनता में इस विषय का पूर्ण प्रसार हो । परन्तु दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि साधारण से साधारण कर्म्म के सम्बन्ध में भी पूर्ण मीमांसा कर तद्द्वारा निश्चित सिद्धान्त पर पहुंचने वाला भारतीय विद्वत् समाज **"यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्म्मं वेदनेतरः"** इस मानव सिद्धान्त के प्रथम द्रष्टा भारतीय विद्वान् उक्त प्रश्न के सम्बन्ध में आज तक कोई सन्तोषप्रद उत्तर न दे सके ।

विद्वानों की ओर से कोई समाधान न होता, तब भी सन्तोष था । परन्तु दुःखमिश्रित आश्चर्य तो हमें तब हुआ जब कि **काजड़ा** संस्कृत पाठशाला के अध्यापक **श्री रामधन जी** ने शर्म्मा जी के प्रश्न को ही अशास्त्रीय मानने की घोषणा कर दी । अविज्ञेय विश्वातीत परात्पर के स्वरूप लक्षण को सर्वथा अचिन्त्य एवं अप्रतर्क्य मानते हुए ऋषियों ने जहाँ **"यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह"** यह उद्‌गार प्रकट किए हैं, उसी अचिन्त्य भाव के लिए आप्त पुरुषों ने—**"अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्"** यह कहा है, वहाँ विश्वसीमान्तर्गत, अतएव सर्वथा ज्ञेय, सर्वथा मीमांस्य उन पितरों के

सम्बन्ध में भी महानुभाव पण्डित जी ने उक्त श्लोक का उद्धरण देते हुए अपनी दिव्य स्मृति का परिचय दिया है। इस प्रकार—"**अशक्तास्तत् पदं गन्तुंततो निन्दां प्रकुर्वते**" "**मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकीः**" इन किंवदन्तियों को चरितार्थ करने का सौभाग्य प्राप्त किया है। और आगे चलिए। काशी के सुप्रसिद्ध विद्वान् **श्री रामभवनोपाध्याय** महोदय ने तो प्रश्न की भाषा में ही दोष बतलाया है। अवच्छेदकावच्छिन्न परम्परा का आश्रय लेते हुए श्रीमानों ने व्युत्पत्ति की दृष्टि से यह निर्णय करने का अनुग्रह किया है कि शर्म्मा जी को प्रश्न करना ही नहीं आता। उनका प्रश्न-विचार व्युत्पत्ति दृष्ट्या सर्वथा अशुद्ध है, प्रथम तो भारतमूर्द्धन्य शर्म्मा जी की युक्तिवादपूर्ण विद्वत्ता ही उक्त आक्षेप को निर्मूल बना देती है। यदि अभ्युपगमवाद से प्रश्न भाषा अशुद्ध भी मान ली जाय, तब भी हम उन्हीं से यह आशा कर सकते थे कि माननीय पण्डित जी यथेच्छ अवच्छेदकावच्छिन्न भावों का समावेश करना चाहते, कर लेते, प्रश्न को सुधार लेते, परन्तु उत्तर देने का अनुग्रह तो करते। क्या प्रश्नकर्त्ता को कुछ उलटी-सीधी मनमानी सुनाने मात्र से ही उनका कर्त्तव्य समाप्त हो गया? हमने तो सोचा था कि पण्डित जी का यह गर्ज्जन अवश्य ही कभी वृष्टि करेगा। आज उस घटना को लगभग चार वर्ष हो गए, परन्तु आज तक इस सम्बन्ध में आपने अपने उदार विचार प्रकट करने की आवश्यकता न समझी। सम्भव है आपने ऐसे साधारण विषय की चर्चा उठाना अपने स्वरूप के अयोग्य समझा हो। इस प्रकार यहाँ भी "**शेषं कोपेन पूरयेत्**" यह वाक्य अन्वर्थ बना।

卐卐卐卐 卐卐

शास्त्रीय प्रश्न-प्रतिवचन मीमांसा—

आगे जा कर भारतीय विद्वत् समाज की ओर से सर्वथा निराश होकर शर्म्मा जी ने स्वयं ही "**शास्त्रीय प्रश्न प्रति वचनम्**" शीर्षक से श्री रामभवनोपाध्याय महोदय के शुष्क तर्काभास जाल को सम्यक् रूप से छिन्न-भिन्न करते हुए स्वयं ही पितृविषयिणी जिज्ञासा को शान्त करने का उपक्रम किया था, परन्तु दुःख के साथ लिखना पड़ता है—कि इधर दो-तीन वर्षों से आप मंदाग्नि रोग से पीड़ित होने के कारण अब तक अपना संकल्प पूर्ण नहीं कर सके हैं। इसी अवसर में आपने इस सम्बन्ध में कुछ लिखने की आज्ञा प्रदान की थी, परन्तु रत्नाकर के अल्प आयतन में मैं अपने विचारों का समावेश करने में असमर्थ था। फलतः शर्म्मा जी की उसी आज्ञा को शिरोधार्य कर लेखक ने यह निबन्ध लिखने का निश्चय किया है। प्राक्कथन में जिन कारणों का उल्लेख किया है, उनमें से एक यह भी मुख्य कारण समझना चाहिए।

इस इतिवृत्त से बतलाना हमें यह था कि पितृ-श्राद्ध के सम्बन्ध में न केवल पितृश्राद्ध के सम्बन्ध में ही अपितु समस्त कर्म्मकलाप के सम्बन्ध में सनातनधर्म्मी विद्वान् अपनी कितनी गति रखते हैं। जब विद्वानों की यह दशा है तो साधारण जिज्ञासु अपना सन्तोष न होता देख कर यदि इन शास्त्रीय कर्म्मों पर अविश्वास करते चले जायँ तो कोई आश्चर्य नहीं है। हमारा तो यह विश्वास है कि विद्वानों की इसी

मनोवृत्ति ने आर्य समाज को जन्म दिया है। इन्हीं *धार्मिक महानुभावों की उदासीनता ने इन मतानुयायी महाशयों को उच्छृङ्खल बना रक्खा है।

यह तो हुई मृतपितृ श्राद्धानुयायी सनातनधर्मियों की गुणगाथा। अब जीवितपितृ श्राद्धानुयायी महाशयों पर भी एक दृष्टि डालिए। आर्यसमाज का अपना कोई सिद्धान्त नहीं है। **"सनातनधर्म्मी जो कुछ मानते हैं, वह सब अवैदिक होने से अमान्य है"** यही इनका सर्वप्रिय सिद्धान्त है। **"हम कुछ नहीं मानते, तुम जो कुछ मानते हो वह गलत है"** यही इनका अमोघशस्त्र है। यदि इन्हें अपने कल्पित सिद्धांत का कहीं विरोध प्रतीत होता है तो उसके परिहार के लिए—**"यह प्रकरण प्रक्षिप्त है। ब्राह्मणों ने अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए पीछे से कल्पित विषयों का समावेश कर डाला है"** यह उत्तर रखते हैं। सनातन-धर्म्मी जानते नहीं परन्तु मानते हैं। जो अन्ध श्रद्धा शास्त्र की रक्षा कर ले, वह उस सत्य श्रद्धा से कहीं बढ़ कर आदरणीय है जो कि कर्म्म कलाप को ही विलुप्त कर देती है। यदि सनातनधर्म्मी नहीं समझते तब भी **"यह शास्त्र का वचन है, इसे मानने में ही हमारा कल्याण है"** यह मनोवृत्ति रखते हैं। इनकी इसी मनोवृत्ति से प्रबल आघातों को सह कर भी शास्त्र आज तक जीवित रह सका है। यदि इनकी भी— **"यह हमारी समझ में नहीं आया, इसलिए नहीं मानते। यह अंश केवल कल्पना है, प्रक्षिप्त भाग है"** यही मनोवृत्ति होती तो सारा शास्त्र प्रक्षिप्त के झंझावात से अन्तरिक्ष में विलीन हो जाता। आज आर्य समाज सनातन-धर्म्म की प्रत्येक आज्ञा का यथाशक्ति तिरस्कार करने में ही अपने आपको कृतकृत्य समझते हैं, सबको अवैदिक बतलाते हैं। धार्मिक जगत् विधर्म्मियों का सामना कर सकता है, परन्तु जो शास्त्र उसमें भी शास्त्र-मूर्द्धन्य वेद का ही सहारा लेकर उत्पथ का आश्रय लेता है, थोड़ी देर के लिए भोली जनता इस धोखे में आ कर पथ-भ्रष्ट बन जाती है। आर्यसमाज ने यही किया। वेद का नाम लेकर ही उसने शास्त्रीय कर्म्मों का ग्रीवानिकृन्तन किया। उधर वेद के सम्बन्ध में हमारे विद्वान् भी महाशया (महा-शया) बन रहे हैं। आर्य समाज की सफलता का यह दूसरा कारण हुआ। वेद-सिद्ध श्राद्ध के सम्बन्ध में इन महाशयों का क्या सिद्धान्त है? यह भी सुनिए। पितृतर्पण का उल्लेख करते हुए **श्री स्वामी दयानन्द जी** लिखते हैं—

"पिता-पितामह-प्रपितामह-माता-पितामही-प्रपितामही-पत्नी-सम्बन्धी-सगौत्री आदि को अत्यन्त श्रद्धा से उत्तम अन्न, वस्त्र, सुन्दर यान आदि दे कर अच्छे प्रकार से जो तृप्त करना है, अर्थात् जिस-जिस कर्म्म से उनका आत्मा तृप्त और शरीर स्वस्थ रहे, उस-उस कर्म्म से प्रीतिपूर्वक उनकी सेवा करनी—वह श्राद्ध और तर्पण कहलाता है।" (सत्यार्थप्रकाश ४ समुल्लास)।

---

*प्रकृति सिद्ध नित्यधर्म्म का अनुगमन करने वाले धार्मिक कहलाते हैं, एवं साधारण मनुष्य की कल्पना शक्ति से प्रवृत्त होने वाली सम्प्रदाय **"मत"** है। धर्म्म और मत में यही अन्तर है। सनातन धर्म्म धर्म्म है, आर्यसमाज समाज है, इसकी मूल प्रतिष्ठा मत है।

स्वामी जी ने "**ये सोमे जगदीश्वरे पदार्थविद्यायां च सीदानी ते सोमसदः**" इत्यादि रूप से **सोमसद्, अग्निष्वात्ता, बर्हिषत्, सुकाली** आदि पितरों की व्युत्पत्ति की है। आगे जाकर तत्तत्गुणक जीवित पितादि को तृप्त करने का आदेश दिया है (द्रष्टव्य ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, दयानन्द सरस्वती)।

पितृ-तर्पण पञ्च-महायज्ञों के अन्तर्गत है, यह सर्वविदित एवं सर्वसम्मत है। यह पञ्चयज्ञ न काम्य कर्म्म है, न नैमित्तिक, अपितु सन्ध्यादि की तरह नित्य-कर्म्म है। ऐसी दशा में स्वामी जी के मतानुसार एक साधारण स्थिति के गृहस्थी को भी माता-पिता-बाबा-पड़बाबा-अपनी स्त्री और सम्बन्धी, सम्बन्धी ही नहीं समान गोत्री सबको नित्य-प्रति भोजन कराना आवश्यक हो जाता है। क्यों कि नित्य विधियों के एक दिन के व्यवधान से भी प्रायश्चित का भागी होना पड़ता है। इनका तो प्रतिदिन करना परम आवश्यक है। यदि श्राद्ध का वस्तुतः यही स्वरूप है तो अर्थ-शास्त्र की दृष्टि से श्राद्धकर्त्ता थोड़े ही समय में स्वयं श्राद्ध देवता बन सकता है। एक गृहस्थी के लिए उक्त विधान दैनिक रूप से कैसे सम्भव हो सकता है? यह स्वामी जी से ही पूछना चाहिए।

इसी प्रकार **ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका** में श्राद्ध तथा तर्पण का स्वरूप बताते हुए स्वामी महाशय कहते हैं—

"......यत्तेषां श्रद्धया सेवनं क्रियते तच्छ्राद्धं वेदितव्यम्। तत्र विद्वत्सु विद्यमानेष्वेतत् कर्म्म संघटयते, नैव मृतकेषु। कुतः। तेषां प्राप्त्यभावेन सेवनाशक्यत्वात्। तदर्थं कृतकर्म्मणः प्राप्त्यभाव इति व्यर्थापत्तेश्च।"

(जो कि उनकी श्रद्धा से सेवा की जाती है उसी को श्राद्ध समझना चाहिए। इस परिस्थिति में विद्यमान विद्वानों में ही यह श्राद्धकर्म्म घटित होता है, मृतकों में नहीं। क्यों? उनकी प्राप्ति के अभाव के कारण उनकी सेवा नहीं बन सकती। साथ ही में उनके लिए किए हुए श्राद्धकर्म्म की उन्हें प्राप्त न होने से व्यर्थता भी है)।

स्वामी जी का अभिप्राय यही है कि मन्त्रों में—

"आयन्तु नः पितरः सौम्यासः" "अत्र पितरो मादयध्वम्"

"उपहूता पितरः" **(सौम्य पितर आवें—इस स्थान में पितर रमण करें—पितर बुला लिए गए हैं)** इत्यादि रूप से पितरों का आह्वान, आसन-प्रदान आदि निर्दिष्ट है। बुलाना, आसन देना, यह सब कर्म्म जीवित शरीरधारी पितरों के सम्बन्ध में ही बन सकते हैं। उन्हीं को आहुति दी जा सकती है। पाठक विचार करें, इस कथन में कितना तथ्य है। निराकार परमेश्वर की उपासना (आर्य्यसमाजियों के मतानुसार) बन सकती है, वह निराकार हमारी सब कुछ सुन लेता है, उसके सम्बन्ध में हम सब कुछ कर सकते हैं किन्तु प्राणात्मक मृत पितरों के लिए हम कुछ नहीं कर सकते। परलोक में जाने के बाद उनके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं रहता। मानों, सूक्ष्म देवयोनिएँ कोई पदार्थ तत्त्व है ही नहीं।

मृतपितरश्राद्ध की अवैदिकता उद्घोषित करते हुए उक्त महानुभाव कहा करते हैं कि मूल वेद (संहिता) में एवं तद्व्याख्या रूप ब्राह्मण भाग में न तो कहीं श्राद्ध शब्द ही है, न कहीं श्राद्ध-पद्धति ही उपलब्ध होती है। आपत्ति यथार्थ है। हाँ तो कृपानाथ! यह बतला दीजिए कि जब श्राद्ध शब्द ही वेद में नहीं है तो आपका अभिमत श्राद्ध कैसे वैदिक हुआ? मृत पितरों न सही, जीवित पितरों का श्राद्ध तो आप मानते हैं। बतलाइए, आपके श्राद्ध शब्द का आधार संहिता का कौनसा मन्त्र है? यज्ञोपवीत शब्द संहिता में नहीं है, न यज्ञोपवीत संस्कार की पद्धति ही है। छोड़ दीजिए, आप तो वेदभक्त बनने का दम भरते हुए अन्त्यज अन्त्यावसाइयों तक को इस पवित्र संस्कार से संस्कृत करते हैं। साथ ही में मृत-पितर-श्राद्ध के उपोद्बलक वचन एवं ब्राह्मण भाग में **पिण्डपितृयज्ञ** नाम से पद्धति भी उपलब्ध होती है, आप इससे भी वञ्चित हैं। **तस्कर** शब्द वेद में है, चो ी करना आवश्यक है। कितना भ्रम? कैसा अज्ञान? कितना अभिनिवेश!!!

प्रमाणोपनिषत् प्रकरणोपसंहार—

प्रमाणोपनिषत् का उपसंहार करते हुए हम उन आर्य विद्वानों से करबद्ध प्रार्थना करते हैं कि वे कृपया स्थिर बुद्धि से इस सम्बन्ध में विचार करें। "**मतावेश ही सत्यमार्ग का महा प्रतिबन्धक है**" यह उन्हें अपने लक्ष्य में रखना चाहिए। **भूल देखना भूल नहीं है, परन्तु भूल देखने में भूल न हो, यह भी नहीं भूलना चाहिए।**" प्रमाणोपनिषत् समाप्त हुई, अब क्रम प्राप्त "पितृणां पितर विज्ञानोपनिषत्" नाम का द्वितीय प्रकरण आपके सामने आता है।

इति—पितरस्वरूपविज्ञानोपनिषदि प्रमाणोपनिषत् समाप्ता:

अथ

पितर स्वरूपविज्ञानोपनिषदि पितॄणांपितरविज्ञानोपनिषद्

द्वितीया

[२]

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ।।

पितृस्वरूप विज्ञानोपनिषत् में अमृतात्म ब्रह्म का सिंहावलोकन

इस दूसरी **पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषद्** में **पितर** तत्त्व का स्वरूप बतलाना है। यह तत्त्व सम्पूर्ण प्रजा का उत्पादक होने से ही "पितर" कहलाता है। यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रजोत्पादक यह पितृतत्त्व मौलिक है अथवा यौगिक है ? दूसरे शब्दों में सबका आदि प्रवर्त्तक यही है अथवा इसका भी प्रवर्त्तक कोई दूसरा तत्त्व है ? इस प्रकरण में इसी प्रश्न का समाधान करना है।

हमें पितरों के पितरों का स्वरूप बतलाना है। इसके लिए पूर्व की **अमृतात्मविज्ञानोपनिषत्** को लक्ष्य में रखना चाहिए। पितर **यौगिकतत्त्व** है, यज्ञ है। यौगिक तत्त्व की मूल प्रतिष्ठा मौलिक तत्त्व है। यही ब्रह्म है। यही अमृतात्मा है। यही षोडशीपुरुष है। फलतः यौगिक पितर-तत्त्व के सम्यक् परिज्ञान के लिए उस मौलिक अमृतात्म ब्रह्म का सिंहावलोकन आवश्यक हो जाता है।

"ब्रह्मैवेदं सर्वम" इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार **ऋषि, पितर, असुर, देवता, गन्धर्व, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, आकाश, वायु, तेज, जल, औषधि, वनस्पति, नद, नदी, सर, समुद्र, ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र, अष्टविधदेवयोनिएँ, मनुष्य, पशु, पक्षि, कृमि,** कीट भेद भिन्न **तिर्यक् योनिएँ, रस-उपरस, धातु-उपधातु, विष-उपविष,** इत्यादि-इत्यादि सम्पूर्ण विश्व–प्रपञ्च उस एक ही ब्रह्म की विभूति है। "एकं वा इदं विबभूव सर्वम्" के अनुसार वह एक ही ब्रह्म-तत्त्व नाना भाव में परिणत हो रहा है। ऐसी अवस्था में "यौगिक पितर तत्त्व का उपादान कौन है ?" इस उपर्युक्त प्रश्न का "ब्रह्म-तत्त्व ही पितर-प्राण का जनक है" यह सामान्य उत्तर हो सकता है।

यदि विशेष दृष्टि से विचार किया जाता है तो निम्नलिखित विशेष उत्तर हमारे सामने आता है। पितर स्वरूप-परिचय से पहिले इनके प्रभव-तत्त्व का स्वरूप जानना आवश्यक है। पितर-प्राण **कहाँ से, किससे, किस समय क्यों उत्पन्न हुए ?** इन चारों प्रश्नों का समाधान ही प्रकृत में अपेक्षित है। जो ब्रह्म-तत्त्व सबका प्रभव है, उसके **अनिरुक्त, निरुक्त** भेद से दो विवर्त्त हैं। सर्वगुणसम्पन्न अतएव सर्वधर्मोपपन्न ब्रह्म निरुक्त (निर्वचनीय) है। सर्वगुणशून्य अतएव सर्वधर्मशून्य, निर्गुण, निष्फल, निरञ्जन ब्रह्म अनिरुक्त (अनिर्वचनीय) है। निरुपाधिक, अनिर्वचनीय शुद्ध ब्रह्म रसमात्र है, यह वाङ्मय से अतीत है अतएव सर्वथा वाक्प्रपञ्च स्वरूप शास्त्र से अनधिकृत है, उसको न जानना ही उसका जानना है, "नेति-नेति" ही उस अलक्षण का लक्षण है। जब कि वहाँ शब्द-शास्त्र की गति ही नहीं तो फिर उसके स्वरूप परिचय के सम्बन्ध में "नेति-नेति" के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है। यह अशास्त्रीय ब्रह्म कार्यकारण मर्यादा से सर्वथा अतीत है। फलतः अनिरुक्त ब्रह्म का पितृकारणता के साथ भी कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसी अवस्था में इसकी चर्चा को यहीं समाप्त कर निरुक्त ब्रह्म की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

निरुक्त ब्रह्म **विश्व–विश्वचर–विश्वातीत**—इन तीन अवस्थाओं में परिणत हो कर ही सर्वप्रभव बनता है। सर्वबल विशिष्ट अनिरुक्त, व्यापक ब्रह्मतत्त्व का जो भाग मायावच्छेद से सीमित बनता हुआ **अक्षर**ात्मक हृदयबल (कामना) की प्रेरणा से क्षर द्वारा विकार भावों का जनक बनता हुआ विकारावच्छेदेन सृष्टिस्वरूप में परिणत हो जाता है। ब्रह्म का विकार क्षर-प्रधान, अतएव वैकारिक वह सृष्ट भाग ही **"विश्व"** कहलाता है। यहाँ आत्मा प्रविष्ट रहता है अतएव **"विशति यत्रात्मा"** इस निर्वचन के अनुसार ब्रह्म के इस सृष्टरूप को **"विश्व"** कहा जाता है। **"तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्"** अपने क्षर-भाग से विकार द्वारा उत्पन्न अपने इस सृष्टरूप में स्रष्टा अक्षर प्रविष्ट हो जाता है। अक्षरावच्छेदेन सृष्ट में प्रविष्ट वही ब्रह्म **"विश्वचर"** है। विशुद्ध अव्यय की अपेक्षा से कार्यकारणातीत वही ब्रह्म **"विश्वातीत"** है इस प्रकार अमृतात्मा की एक–अव्यय, दो-अक्षर तीन-क्षर, यह तीन प्रधान कलाएँ ही
१ २ ३
क्रमशः विश्वातीत, विश्वचर, विश्व इन तीन स्वरूपों में परिणत हो रही हैं। अमृतात्व विज्ञानोपनिषत्वेत्ता विद्वानों को यह स्मरण होगा कि उस प्रकरण में हमने अमायी सर्वबलविशिष्टरसरूप **परात्पर** को विश्वातीत, **षोडशीपुरुष** नाम से प्रसिद्ध **अमृतात्मा** को विश्वचर एवं सावरणसाञ्जन **विकार-कूट** को विश्व

कहा था परन्तु इस प्रकरण में कुछ और ही कहा जाता है। इसमें परस्पर विरोध का कोई अवसर नहीं है। मायामय महाविश्व की अपेक्षा से तो परात्पर-अमृतात्मा-विकार संघ ही क्रमशः विश्वातीत-विश्वचर-विश्व हैं परन्तु वैकारिक विश्व की अपेक्षा से क्षर प्रधान कार्यरूप वैकारिक भाव ही विश्व है। उपर्युक्त निरुक्त ब्रह्म के स्वरूप परिचय से पाठकों को विदित हुआ होगा कि अव्यय क्षरसम्पत्ति से अनुगृहीत वेद-मूर्त्ति अक्षर-ब्रह्म ही सृष्टिकर्त्ता है। यही सृष्टि का आदि आरम्भक है। बिना अव्यय एवं क्षर के सहयोग के अक्षरब्रह्म सृष्टि निर्म्माण में असमर्थ है अतएव आगे चल कर समष्टिरूप षोडशीप्रजापति को ही सृष्टिकर्त्ता मान लिया जाता है। क्षर का क्षरत्व, अक्षर का अक्षरत्व, अव्यय की प्राण एवं वाक् कला पर निर्भर है। अव्यय के प्राण-भाग से अक्षर में कर्तृत्व शक्ति का विकास होता है। अव्यय के वाक्-भाग से क्षर में उपादान-भाव का उदय होता है, इसीलिए **"प्रभवः प्रलय स्थानं निधानं बीजमव्ययम"** के अनुसार अव्यय को सर्वेसर्वा मान लिया गया है। सृष्टि निर्म्माण कामना से वही अपने आपको अक्षर द्वारा **त्रयीब्रह्म, सुब्रह्म** भेद से दो भागों में विभक्त कर डालता है। जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जाएगा। ब्रह्मापेक्षया अव्ययानुगृहित वही अक्षर त्रयीब्रह्म है। विष्णु की अपेक्षा से वही अक्षर सुब्रह्म है। त्रयीब्रह्म **सत्याग्नि** है। यही **पुरुष** है। सुब्रह्म **ऋतसोम** है। यही स्त्री है। दोनों के याज्ञिक समन्वय से सारी सृष्टिएँ होती हैं। इसी विश्वेश्वर विश्वविशिष्ट षोडशी प्रजापति का स्वरूप बतलाती हुई मन्त्रश्रुति कहती है--

यस्मादन्यो न परोऽस्ति जातो य आबभूव भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषिसचते सषोडशी॥ (यजुर्वेद)

उक्त मन्त्र के तीन पाद तो क्रमशः विश्वातीत अव्यय, विश्वचर अक्षर, विश्वरूपक्षर का निरूपण करते हैं एवं चतुर्थ पाद समष्टिरूप प्रजापति का निरूपण करता है। "**पर**" अव्यय का प्रातिस्विक नाम है। **"जिससे अन्य कोई दूसरा पर (अव्यय) आज तक प्रकट नहीं "हुआ" यह वाक्य विश्वातीत अव्यय का समर्थक है।** [१] **'जो भुवनों में प्रविष्ट हो गया, सर्वत्र व्याप्त हो गया" यह वाक्य विश्वचर अक्षर का उपोद्बलक है।** [२] **"वह प्रजापति अपनी (विश्वरूप) प्रजा से संयुक्त हो रहा है" यह वाक्य विश्वमूर्त्तिक्षर का अनुग्राहक है एवं "तीन ज्योतियों से (अव्यय-अक्षर-क्षर से) वह षोडशी सर्वत्र व्याप्त हो रहा है"** [३] यह वाक्य समष्टि रूप से षोडशी प्रजापति का अभिभावक बन रहा है। स्वयं परात्पर **"ज्योतिषां ज्योतिः"** है। वह अनिर्वचनीय है, अतएव उसका दिग्दर्शन स्वतन्त्र रूप से न करा कर "सचते स षोडशी" इस प्रकार समष्टि रूप से ही करा दिया है।

"आत्म-प्राण पशूनामेकत्रसमवेतत्वं प्रजापतित्वम्" प्रजापति का यही लक्षण है। दूसरे शब्दों में **आत्मप्राणपशुत्व** ही प्रजापति शब्द का अवच्छेदक है। आत्मा **उक्थ** है, प्राण **अर्क** है, पशु **अशिति** (अन्न)

है। अथवा प्रकारान्तर से प्रजापति का निर्वचन कीजिए। **"अमृत-सत्य-यज्ञसंस्थात्वं प्रजापतित्वम्"** के अनुसार अमृत-सत्य-यज्ञ तीन संस्थाओं की समष्टि प्रजापति है। समष्टि आत्मा है, व्यष्टि अमृतसत्ययज्ञ है। बहिरंग प्रकृति से असंस्पृष्ट किन्तु अन्तरंग प्रकृतियुक्त शुद्ध षोडशीपुरुष **अमृत** है। दूसरे शब्दों में क्षराक्षर गर्भित परात्पर प्रतिष्ठ उक्थरूप अव्ययपुरुष अमृत है। **प्राण-आप-वाक्-अन्न-अन्नाद** नाम से प्रसिद्ध पञ्चप्राण, ३३ देवता **अर्क** हैं। इन पाँचों अर्कों से युक्त वही अमृततत्त्व **सत्य** नाम से व्यवहृत होने लगता है। यह अर्कप्राण पञ्च **प्रकृति**, एवं स्तौम्य देवता रूप **विकृति** भेद से दो भागों में विभक्त हैं। प्राण–आप–वागादि पञ्चप्रकृतिसमष्टि **"ब्रह्मसत्य"** है। स्तौम्य त्रिलोकी में प्रतिष्ठित **अग्नि-वायु-इन्द्र** कृत आत्मा **वैश्वानर–**हिरण्यगर्भ**–**सर्वज्ञमूर्त्ति त्रैलोक्याधिष्ठाता तत्त्व **"देवसत्य"** है। देवत्रयी रूप **देवसत्य** पञ्चब्रह्मरूप **ब्रह्मसत्य** पर प्रतिष्ठित है। पञ्चप्रकृतिरूप ब्रह्मसत्यविशिष्ट देवसत्य उपनिषदों में जहाँ "अपरब्रह्म" नाम से व्यवहृत हुआ है, वहाँ ब्रह्मदेवसत्य-गर्भित अमृतात्मा **"परब्रह्म"** नाम से प्रसिद्ध है। यही परब्रह्म **"ओङ्कार"** है, जिसका कि दिग्दर्शन पूर्व की **प्राणात्मविज्ञानोपनिषत्** में कराया जा चुका है। अस्मदादि पशुओं से युक्त हो कर वही तत्त्व **"यज्ञ"** कहलाने लगता है।

१–{ १—पुरुषात्मा——आत्मा—उक्थम् }—क्षराक्षरगर्भितऽव्ययपुरुषः

२–{ १—ब्रह्मसत्यात्मा—प्राणाः——अर्कः
२—देवसत्यात्मा—प्राणाः——अर्कः }—अव्ययक्षरगर्भितोऽक्षरपुरुषः

३–{ ३—यज्ञात्मा——प्रशवः——अशितिः }—अव्ययाक्षरगर्भितःक्षरपुरुषः
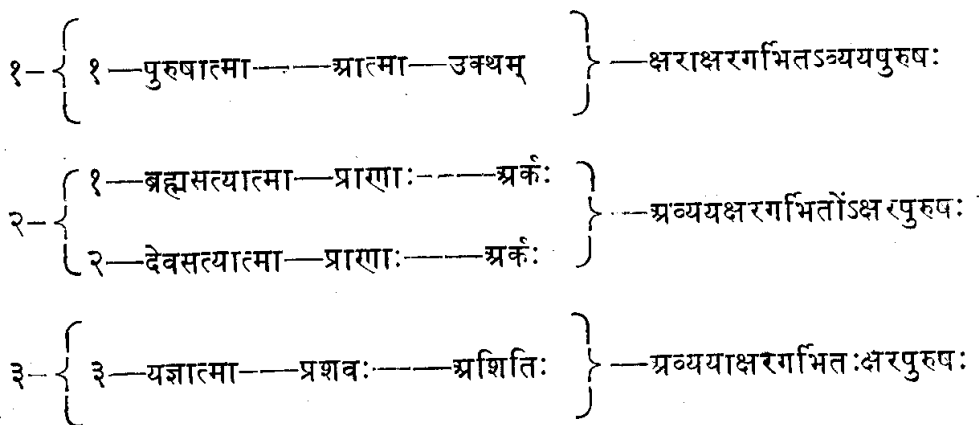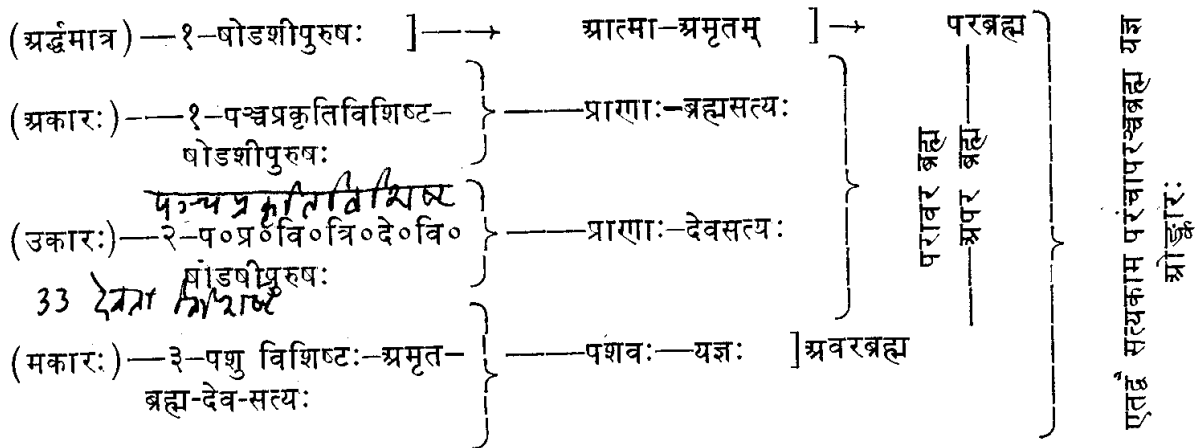
अक्षरप्रधान कारणरूप प्रकृतिभाव ही विश्वचर है, एवं अव्ययप्रधान कार्यकारणातीत पुरुषभाव ही विश्वातीत है। परात्पर की विश्वातीतता विश्वसीमा से सम्बन्ध रखती है, मायी अव्यय पुरुष की विश्वातीतता असंगभाव से सम्बन्ध रखती है। दूसरे शब्दों में विश्व में प्रविष्ट रहता हुआ भी अव्यय पाप्माओं से सर्वथा निर्लिप्त रहता है—**"न करोति न लिप्यते"**, अतः इसे विश्वातीत कहा जाता है। केवल माया-बल ही विश्वातीत परात्पर एवं विश्वप्रविष्ट अव्यय का व्यवच्छेदक है। अन्यथा दोनों एक वस्तु हैं। अमृतात्मा का विश्वचरत्व सर्वव्याप्ति भाव से सम्बन्ध रखता है, केवल अक्षर का विश्वचरत्व कारणता से सम्बन्ध रखता है। अक्षर ही विश्व का आत्मा है। वैज्ञानिकों ने आत्मा का—**"यस्य यदुक्थं सत्, ब्रह्म सत् साम स्यात् स तस्यात्मा"** यह लक्षण किया है। मिट्टी घट का **उक्थ** (प्रभव) है। मिट्टी से उत्पन्न घट मिट्टी पर ही प्रतिष्ठित रहता है, अतः मिट्टी ही घट का **ब्रह्म** (आलम्बन) है, एवं अन्ततोगत्वा घट मिट्टी में ही विलीन हो जाता है अतः मिट्टी ही घट का **साम** (अवसान–भूमि–परायण) है अतएव उक्थ ब्रह्मसामलक्षण मिट्टी ही घट का आत्मा है। इसी प्रकार **'तयाऽऽक्षरा द्विविधाः सौम्यभावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति'** **"अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे। रात्र्यागमे प्रतीयन्ते तत्रैवाव्यक्त संज्ञके"** **"मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्त मूर्त्तिना"** "सूयते स चराचरम्" **"अव्यक्तादीनिभूतानि व्यक्त मध्यानि भारत। अव्यक्त निधनान्येव तत्र का परिदेवना"** **"प्रकृतिः कर्त्रीः पुरुषस्तुपुष्करपलाशवन्निर्लेपः"** इत्यादि श्रौत-स्मार्त्त प्रमाणों के अनुसार प्रकृति नाम से प्रसिद्ध अव्यक्त ही अपने मर्त्य भाग से विश्व का उक्थ—ब्रह्म-साम बनता हुआ विश्वात्मा किंवा विश्वचर है। तीसरे विश्व विवर्त्त में दोनों पक्ष समान हैं।

प्रकारान्तर से सृष्टि के विवर्त्त-भाव की समतुलित विचित्रता देखिए। निष्फल अव्ययात्मा **ही** प्रधान आत्मा है। यही सृष्टि विवर्त्तसमतुलन वेद रूप में परिणत हो कर पितर-प्राण का उपादान बनता है। इस उपादानता के लिए आत्मा को अनेक रूप धारण करने पड़ते हैं। आत्मा के वे विविध रूप कौन से हैं जिनके आधार पर असङ्ग आत्मा को ससङ्ग पितरों का उपादान बनना पड़ता है ? यह विचारणीय है। सबसे पहिला आत्मरूप "श्वोवसीयसमन" है। यही बल तारतम्य से आरम्भ में **आनन्द–विज्ञान–प्राण–वाक्** इन चार चितियों से युक्त होता है, जैसा कि **आत्मविज्ञानोपनिषत्** की अमृतात्मविज्ञानोपनिषत् में विस्तार से बतलाया जा चुका है। इन पाँच कलाओं में से आनन्द-विज्ञान का एक विभाग है, यही **विद्यात्मा** है। प्राण-वाक् का एक स्वतन्त्र भाग है, यही कर्म्मात्मा है। मध्यस्थ मन कामात्मा बनता हुआ दोनों का भागीदार है। इस पक्ष में मन प्रधान आलम्बन है, इसके एक ओर आनन्द-विज्ञान चित है एक ओर प्राणवाक् चित है। अथवा आनन्द को सर्वान्तरतम मानिए। आनन्द मूल कला है। इस पर पहिले क्रमशः विज्ञान मन का चयन है, मन पर क्रमशः प्राणवाक् का चयन है। तैत्तिरीय उपनिषत् ने कोशब्रह्म का निरूपण करते हुए इसी क्रम को प्रधान माना है। पञ्चकल इस अव्ययात्मा से बल सम्बन्ध से पञ्चकल अक्षर का उदय होता है। आनन्द ब्रह्म की प्रतिष्ठा है, विज्ञान विष्णु की, मन इन्द्र की, प्राण अग्नि की, वाक् सोम की प्रतिष्ठा है। मध्यस्थ इन्द्र के एक ओर ब्रह्मा-विष्णु की, एक ओर अग्नि-सोम की चिति होती है। अथवा ब्रह्मा पर विष्णु-इन्द्र की क्रमशः चिति होती है, इन पर अग्नि-सोम की क्रमशः चिति होती है। जैसा एवं जो कला-संस्थानक्रम अव्यय का है वैसा ही एव वही क्रम अक्षर का है। अव्ययावच्छिन्न अक्षर से पञ्चकल क्षर का विकास होता है।

आनन्दगर्भितब्रह्मा प्राण की विकास-भूमि है, विज्ञानगर्भितविष्णु आपः की, मनोमयइन्द्र वाक् की, प्राणमयअग्नि अन्नाद की, वाङ्मयसोम अन्न की विकास भूमि है। यहाँ भी एक दृष्टि से मध्य में वाक् है, इस पर एक ओर से प्राण-आप चित है, एक ओर से अन्नाद-अन्न चित है। अथवा प्राण मूल भित्ति है, इस पर आपः वाक् क्रमशः चित हैं, इन पर अन्नाद-अन्न क्रमशः चित हैं। अव्यय, मन, अक्षरेन्द्र, क्षर वाक् तीनों अभिन्न हैं। अव्ययानन्द, अक्षर ब्रह्मा, क्षर प्राण तीनों अभिन्न हैं। अव्यय विज्ञान, अक्षर विष्णु, क्षर आप तीनों अभिन्न हैं। अव्यय प्राण, अक्षरअग्नि, क्षर अन्नाद तीनों अभिन्न हैं। अव्यय वाक् अक्षरसोम, क्षरअन्न तीनों अभिन्न हैं। फलतः अव्यय-अक्षर-क्षर तीनों एक ही आत्मा के तीन विवर्त्त हैं। अव्ययात्मा उस एक आत्मा का आलंम्बन रूप **पर-ब्रह्म** रूप है। अक्षरात्मा निमित्त कारण भूत **परमब्रह्म** है, क्षरात्मा उपादान कारण भूत महद्ब्रह्म है। निम्नलिखित श्रौत वचन उक्तार्थ का ही स्पष्टीकरण करते हैं—

अव्ययात्मा {

१—"अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते, अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्।"——→वाक्

२—"प्राणो हि भूतानामायुः तस्मात् सर्वायुषमुच्यते।"——→प्राणः

३—"प्राणमयात् अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः।"——→मनः

४—"मनोमयात् अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः।"——→विज्ञानम्

५—विज्ञानमयात् अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः।"——→आनन्दः

—**—

अक्षरात्मा {

१—"आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्।"——→ब्रह्मा (आनन्दमयः)

२—"विश्वा भुवनानि वेद" (ऋ०सं० ३।४४।१०)→विष्णुः (विज्ञानमयः)

३—"यन्मन. स इन्द्रः" (गो०उ० ४।११)——→इन्द्रः (मनोमयः)

४—"प्राणो वा अग्निः" (श० ६।४।१।६८)——→अग्निः (प्राणमयः)

५—"वागितिचन्द्रमाः" (जै०उ० ३।१३।१२)——→सोमः (वाङ्मयः)

—*—

अक्षरात्मा —

१—"प्राण उ वै ब्रह्म" (शत० ८।४।१।३)————————→प्राणः (आनन्द ब्रह्ममयः)

२—"आपो वा यज्ञः" (विष्णुः) (शत० ३।१।४।१५)———→आपः (विज्ञान विष्णुमयः)

३—"अथ य इन्द्रस्सा वाक्" (जै०उ० १।३३।२)——————→वाक् (मन इन्द्रमयः)

४—"अन्नादोऽग्निः" (शत० २।१।४।२८)————————→अन्नादः (प्राणाग्निमयः)

५—"अन्नं वै चन्द्रमाः" (तै० ३।२।३।४)————————→अन्नम् (वाक् सोममयः)
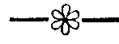
मनः—सर्वालम्बनम् १ तत्र आनन्दविज्ञानेचिते ← तत्र प्राणवाचौचितौ	आनन्दः —सर्वालम्बनम् तत्र → विज्ञानमनसी अनुस्यूते तत्र प्राण-वाचौ अनुस्यूतौ
इन्द्रः—सर्वालम्बनम् २ तत्र ब्रह्माविष्णूचितौ ← तत्र अग्नीषोमौ चितौ	ब्रह्मा-सर्वालम्बनम् तत्र → इन्द्रविष्णू-अनुस्यूतौ तत्र अग्नीषोमौ अनुस्यूतौ
वाक्—सर्वालम्बनम् ३ तत्र अब् प्राणौ चितौ तत्र अन्नान्नादौ चितौ	प्राणः—सर्वालम्बनम् तत्र अब्वाचौ-अनुस्यूतौ तत्र अन्नान्नादौ-अनुस्यूतौ

यदिदमव्ययमनः———→यश्चायमिन्द्राक्षरः———→याचेयंवाक् क्षरमयीः			एकं तत्
योऽयमव्ययानन्दः———→योऽयमक्षरब्रह्मा————→योऽयमक्षरप्राणः			एकं तत्
यदिदमव्ययविज्ञानम्——→योऽयमक्षरविष्णुः————→याश्चेमाक्षरापः			एकं तत्
योऽयमव्ययप्राणः———→योऽयमक्षराग्निः————→योऽयंक्षरान्नादः			एकं तत्
योऽयमव्ययवाक्———→योऽयमक्षरसोमः————→यदिदंक्षरान्नम्			एकं तत्
अव्ययात्मापरब्रह्म	अक्षरात्मापरमब्रह्म	क्षरात्मामहद्ब्रह्म	——

पाठकों को उक्त आत्मविवर्त्तों से यह विदित हुआ होगा कि **मन-इन्द्र-वाक्** तीनों समान धारा से सम्बन्ध रखते हैं। मन अव्यय है, इन्द्र अक्षर है, वाक् क्षर है। यही वाक् वेद-त्रयी की मूल प्रतिष्ठा है। इसी आधार पर "वाग्विवृताश्चवेदाः" यह कहा जाता है। षोडशीपुरुष वेद रूप में परिणत होकर ही पितर-प्राण का आरम्भक बनता है जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। पितर-प्राण का मूल कौन है? इस प्रश्न का '**वेदावच्छिन्न वेदमूर्त्ति षोडशीपुरुष पितर-प्राण का आरम्भक है**' यही समाधान है।।

विश्वात्मा प्रजापति त्रयीब्रह्म एवं सुब्रह्म के समन्वय से ही विश्वनिर्म्माण में समर्थ होता है, यह कहा जा चुका है। **ऋक्-साम-यजुः** तत्त्वों की समष्टि "त्रयीब्रह्म" है।

लेखात्मिका पुरविभूति— मैथुनी-सृष्टि धारा में उत्पन्न होने वालों में सर्वप्रथम यही ब्रह्म प्रकट होता है, अतएव इसे "प्रथमज ब्रह्म" कहा जाता है। (शत० ६।१।१।७)। इस प्रथमज ब्रह्म का ऋक्साम भाग अनावरक है, यजुः भाग आवरक है, धामच्छद है, जगह रोकने वाला है। ऋक्साम इस धामच्छद यजुः को सीमित कर देते हैं। सीमा-भाव सम्पादन करने वाला तत्त्व ही "**छादनात्**" व्युत्पत्ति से **छन्द** कहलाता है। ऋग्वेद उक्थ-छन्द है, सामवेद पृष्ठ-छन्द है। तात्पर्य यह है कि वस्तुतत्त्व यजुः है। इसका केन्द्र भाग उक्थ है, इसकी सीमा ऋग्वेद से सम्बन्ध रखती है अतएव ऋक् छन्द को उक्थ छन्द कहा जाता है। वस्तु का ऊपरी भाग पृष्ठ है, इसकी सीमा साम से निष्पन्न होती है अतएव सामछन्द को पृष्ठछन्द कहा जाता है। अव्ययक्षरगर्भित अक्षरमूर्त्ति यजुर्ब्रह्म यद्यपि स्वस्वरूप से असीम है, तथापि उक्थ-पृष्ठात्मक ऋक्-साम छन्द से छन्दित होता हुआ यह ससीम बन जाता है। सीमा-भाव एक प्रकार की **लेखा** (रेखा-कार) है। लेखा किंवा रेखा ही एक प्रकार का "**पुर**" है। लेखात्मक किंवा छन्दोमय इस पुर से परिगृहीत वह यजुर्ब्रह्म "पुरिशेते" इस निर्वचन से "**पुरुष**" नाम से व्यवहृत होने लगता है। ऋक् "**महदुक्थ**" है, साम "**महाव्रत**" है, यजुः "**अग्नि**" है, यही **पुरुष** है। यजुर्ब्रह्म के लेखात्मक इसी पुररूप परिच्छेद का स्वरूप बतलाती हुई श्रुति कहती है—

"परिवाजपतिः कविः परित्वाग्ने पुरं वयं त्वमग्ने द्युभिः" (यजु०सं०)

"अग्निमेवास्माऽएतदुपस्तुत्य वर्म्म करोति परिवीतिभिः । परीव हि पुरः । आग्नेयीभिः । अग्निपुरामेवास्माऽएतत् करोति । तस्माद् हैतत् पुरां परमं रूपं यत् त्रिपुरम् । स वै वर्षीयसा वर्षीयसा छन्दसा परां परां लेखां वरीयसीं करोति । तस्मात् पुरां परा-परा वरीयसा लेखा भवन्ति । लेखा-हि पुरः ।"
(शत० ६।३।१।२५)

यजु तत्त्व "**वय**" है, ऋक् साम इस यजु को चारों ओर से बद्ध रखने वाला "**वयोनाध**" है, वय, वयोनाध की समष्टि है । "वयुन"—"सर्वमिदं वयुनम्" यह व्यापक सिद्धान्त है । इनमें भी—"ऋक्सामे-यजुरपीतः" (शतपथ कां० १०) के अनुसार यजु पुरुष ही मुख्य है । इसी विज्ञान के आधार पर "**पुरुष** एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्" (यजुः सं० ३१।१।२) यह कहा गया है ।

त्रयीब्रह्म का वैभव—

उपर्युक्त त्रयीब्रह्म में से ऋक्साम को थोड़ी देर के लिए छोड़ दीजिए, केवल यजुः पुरुष पर दृष्टि डालिए । यत्-जू, इन दो विरुद्ध तत्त्वों का समुचित रूप ही "**यज्जू**" है । गति तत्त्व '**यत्**' है, यही प्राण किंवा वायु है । स्थिति तत्त्व "**जू**" है, यही वाक् किंवा आकाश है । आकाशात्मिका यही वाक् स्वायंभुवी—सत्या—अनादिनिधना—अपौरुषेया वेदमयी वाक् है । इसी से आगे की सम्पूर्ण सृष्टिएँ होती हैं जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है । प्राण-वायु रूप 'यत्'—**कं ब्रह्म है**, वाङ्मय आकाशात्मक "जू" **खं ब्रह्म है** । दोनों नित्य अविनाभूत हैं, दूसरे शब्दों में तादात्म्यापन्न हैं । दोनों के इसी तादात्म्य-भाव को लक्ष्य में रख कर सामश्रुति कहती है—

"प्राणो ब्रह्म । कं ब्रह्म—खं ब्रह्मेति । यद्वाव कं तदेव खम् । यदेव खं, तदेव कम् । प्राणं च हास्मै तदाकाशं चोचुः ।" (छा०उ० ४।१०)

प्राणात्मक वायु सत्याग्नि तत्त्व है, आकाशरूपवाक् सोमतत्त्व है । दोनों की समष्टि **अर्द्धनारीश्वर शिव है** । यही **अग्नीषोमब्रह्म** है । इन दोनों में से ब्रह्माग्नि रूप प्राण-तत्त्व ही "ऋषि" है । इस ऋषि-प्राण के सम्बन्ध में—"प्राणाः वा ऋषयः । ते यदस्मादिदमिच्छन्तः श्रमेण तपसा अरिषंस्तस्मात्ऋषयः" (शत० ६।१।१।१) यह वचन प्रसिद्ध है । ब्रह्मविद्यामयी सोमात्मिका विश्वव्यापिनी वाक् इस ऋषि-प्राण के साथ मन्त्रणा करती है, संयुक्त होती है, अतएव इस वाक् को "**मन्त्र**" कहा जाता है । इस मन्त्रात्मिका वाक् के साथ सर्वप्रथम प्राणरूप इसी ऋषि का सम्बन्ध होता है । इसी विज्ञान के आधार पर "**ऋषयो-मन्त्रद्रष्टारः**" यह कहा जाता है । ऋषि मन्त्रद्रष्टा हैं इसका यही अभिप्राय है कि असत्-प्राण वाक्-तत्त्व के प्रथम **सम्बन्धी** हैं । सम्पूर्ण विश्व प्राणमयी, ऋषिमयी मन्त्रवाक् में ही अन्तर्भूत है—"वाचीमा विश्वा

भुवनान्यर्पिता।" कहीं-कहीं "ऋषिर्वेदमन्त्रः" इत्यादि रूप से ऋषि एवं मन्त्र को एक ही तत्त्व माना गया है। इसमें विरोध नहीं समझना चाहिए। दोनों का अविनाभाव (तादात्म्य) ही इस एकत्व प्रतिपादन का मूल है। ऋषि एवं मन्त्र रूप 'यज्जू' ही देवताओं की परोक्ष भाषा में "यजु" नाम से प्रसिद्ध है। जू रूप आकाश धरातल में प्रतिष्ठित यत् रूप ऋषि नामक **असत्** प्राण ही मौलिक तत्त्व है। इसी से यौगिक पितर-असुरादि तत्त्व उत्पन्न होते हैं। यत् रूप प्राणवायु कुर्वत् रूप है, क्रियाशील है, नित्य क्षुब्ध है। इसके व्यापार से आकाशात्मिका वाक् का एक प्रदेश अब् रूप में परिणत होता है। वाक् तत्त्व ह आंशिक रूप से द्रुत हो कर पानी बन जाता है। स्वयं वाक् तत्त्व सत्य होने से व्याप्ति भाव से रहित था, परन्तु पानी की अवस्था में आ कर ऋतरूप में परिणत होता हुआ यही व्याप्तिभाव से युक्त हो जाता है, सबका संवरण कर लेता है, अतएव **"आप्नोत्–अवृणोत्"** इत्यादि निर्वचनों के अनुसार इसे आप–वाः इत्यादि नामों से व्यवहृत किया जाता है। आप्ति लक्षण यह पानी उस सत्य वाक् की ही अवस्थाविशेष है। इसी आधार पर–"सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्। वागेव सासृज्यत" (श० ६।१।१) । यह कहा जाता है। यही अपूतत्व **सुब्रह्म** है, यही चौथा **अथर्ववेद** है। गोपथ श्रुति ने इसे ही **"स्वेद" "सुवेद"** **"सुब्रह्म"** इत्यादि नामों से व्यवहृत किया है (द्रष्टव्य गो. ब्रा. पू. १।१।१)। जिस प्रकार यजुर्ब्रह्म में यत्–जू (गति–स्थिति) ये दो तत्त्व हैं एवमेव यह सुब्रह्म भी स्नेह–तेज भेद से दो भागों में विभक्त है। स्नेह तत्त्व **भृगु** है तेज तत्त्व अङ्गिरा है। स्नेह लक्षण भृगुतत्त्व **सोम** है, तेजो लक्षण अङ्गिरातत्त्व **अग्नि** है। यजुर्ब्रह्म भी अग्निसोममय था, यह सुब्रह्म भी अग्निसोममय है। अन्तर दोनों में केवल यही है कि यजुरूप अग्नि–सोम गति–स्थिति लक्षण है, एवं सुब्रह्मात्मक अग्नि–सोम तेज–स्नेह लक्षण है। स्थिति-गति रूप अग्नि–सोममय यजुर्ब्रह्म से स्नेह–तेज रूप अग्निसोममय सुब्रह्म उत्पन्न होता है। स्नेह लक्षण **सोम** का स्थिति लक्षण जू भाग से सम्बन्ध है, तेजो लक्षण अग्नि का गति लक्षण यत् भाव से सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि वाक् से उत्पन्न होने वाले अप् तत्त्व में वागविनाभूत प्राण भी अनुस्यूत रहता है। प्राणाग्नि में वाक्–सोम है, वाक्–सोम में प्राणाग्नि है। प्राणाग्नि गर्भित वाक्तत्त्व सोम है। वाक्–सोम गर्भित प्राण अग्नि है। इसी द्वैविध्य से अप्–तत्त्व की दो अवस्थाएँ हो जाती हैं। प्राणाग्नि गर्भित स्थितिलक्षण वाक् सोम से स्नेहलक्षण भृगु–सोम का विकास होता है, एवं वाक्–सोम गर्भित गति लक्षण प्राणाग्नि से तेजोलक्षण अङ्गिरोऽग्नि की उत्पत्ति होती है। पाठकों को यह स्मरण रखना चाहिए कि सृष्टि **संसृष्टि** लक्षण है। दो अथवा अनेक तत्त्वों का रासायनिक मिश्रण (जो कि मिश्रण याज्ञिक परिभाषा के अनुसार **चिति सम्बन्ध–अन्तर्यामसम्बन्ध–ग्रन्थिसम्बन्धयाग** इत्यादि नामों से व्यवहृत हुआ है) ही संसृष्टि है। यजुर्ब्रह्म प्राणात्मक है, प्राण प्रधान है। प्राण–तत्त्व सर्वथा असंग है। इससे संसृष्टि मूला मैथुनी सृष्टि नहीं हो सकती। मैथुनी सृष्टि का मूल उपक्रम आपोमय सुब्रह्म ही है। प्रजा-सृष्टि का मूल प्रभव स्नेहतेजोलक्षण यही सुब्रह्म है। यद्यपि त्रयीब्रह्मात्मक यजुर्ब्रह्म में भी स्नेहलक्षण वाक्-तत्त्व प्रतिष्ठित है, एवं सुब्रह्म में भी तेजोलक्षण अङ्गिरा तत्त्व प्रतिष्ठित है। ऐसी दशा में यजु को भी वाकपेक्षया संसृष्टि लक्षण माना जा सकता है, एवं सुब्रह्म को भी अङ्गिरा की अपेक्षा से असंग कहा जा सकता है, तथापि यजु में यत्–प्राण की ही प्रधानता के कारण, एवं सुब्रह्म में स्नेहलक्षण भृगु की ही प्रधानता के कारण यजु को असंग ही माना गया है। प्राण–वाक् दोनों के रहने पर भी असंग प्राण की

प्रधानता से यजुर्ब्रह्म प्राणमूर्ति माना गया है। स्नेह–तेज दोनों के रहने पर भी ससंग आपः की प्रधानता से सुब्रह्म को आपोमूर्त्ति ही माना गया है। एक विशेषता और। यजु में यद्यपि प्राण–वाक् भेद से अग्नि-सोम दोनों हैं, परन्तु प्रधानता प्राणाग्नि की है, अतः यत्–जू रूप (अग्नि–सोम रूप) यजु को केवल अग्नि ही मान लिया गया है। एवमेव सुब्रह्म में भी यद्यपि अङ्गिरा–भृगु भेद से अग्नि–सोम दोनों हैं, परन्तु प्रधानता अप् तत्त्व की है, अतः अङ्गिरा भृगु रूप (अग्नि–सोमरूप) सुब्रह्म को केवल सोम रूप ही मान लिया गया है। **यजुर्ब्रह्म ब्रह्माग्नि** है, सत्याग्नि है, पुरुष है। सुब्रह्म सोम है, स्त्री है। इसी आपोमय सुब्रह्म रूप रेतः की उस अग्निमय ब्रह्म में मातरिश्वा* द्वारा आहुति होती है। इसी से प्रजोत्पत्ति होती है। कहना यही है कि यजुर्ब्रह्म को (जो कि यजुर्ब्रह्म विज्ञान भाषा में **स्वयंभू** नाम से प्रसिद्ध है) प्रजा–सृष्टि के उपादानभूत शुक्र–सम्पत्ति के लिए सर्वप्रथम इसी अप् तत्त्व को उत्पन्न करना पड़ता है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर भगवान मनु कहते हैं—

सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ।। (मनुः)

स्वयम्भू ब्रह्म का शरीर त्रयीमय है। त्रयी के यजुभाग का प्राणगर्भित भाग ही इसका स्वभाग है। यही पानी बना है, इसी आधार पर "स्वात्" कहा गया है। **"तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशम्"** इस सिद्धान्त के अनुसार त्रयीब्रह्म आपोमय सुब्रह्म को उत्पन्न कर इसमें प्रविष्ट हो जाता है, इसी से **आण्डसृष्टि** का स्वरूप निष्पन्न होता है। प्रत्येक अण्ड (अण्डे) में गर्भ में गर्मी रहती है, चारों ओर पानी रहता है। यही स्थिति यहाँ है। गर्भ में ब्रह्माग्निप्रधान त्रयीब्रह्म है।. चारों ओर आपोमय सुब्रह्म व्याप्त है। इसी आधार पर इस ब्रह्मपुर को **ब्रह्माण्ड** (ब्रह्म का अण्डा) कहा जाता है। जैसा कि—**"स त्रय्याविद्यया सहापः प्राविशत् तत आण्डंसमवर्तत"** (**शत०** ६।१।१) इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। सृष्टिमूलभूत शुक्रमूर्त्ति स्नेह-तेज लक्षण भृग्वाङ्गिरोमय इसी अप् ब्रह्म का निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—

ब्रह्म की स्वात् विभूति—

आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वाङ्गिरोमयम् ।
अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः ।। (अथर्ववेद) गोपथ ब्रा·

संसृष्टि लक्षण सृष्टब्रह्म (विश्व) में इन दो के अतिरिक्त तीसरे तत्त्व का अभाव है। इसी अभिप्राय से महर्षि कौषीतकि ने **"द्वयं वा इदं सर्वं स्नेहश्चैव तेजश्च। तदुभयमहोरात्राभ्यां व्याप्तम्"** (कौषी० १७।६) यह कहा है।

---

*इस विषय का विशद् विवेचन ईषोपनिषद् हिन्दी–विज्ञान–भाष्य, द्वितीय खण्ड के **"अनेजदेकं मनसोजवीयः"** इत्यादि मन्त्र व्याख्यान में देखना चाहिए।

भृगु-अङ्गिरा यही दोनों तत्त्व क्रमशः **पितर–देवता** की प्रतिष्ठा हैं। भार्गव सौम्य प्राण पितृ तत्त्व की प्रतिष्ठा है, आङ्गिरस आग्नेय तत्त्व देवतत्त्व की विकास भूमि है। यजु का वाक् भाग प्रधान रूप से भार्गव प्राण का जनक है, प्राण भाग प्रधान रूप से आङ्गिरस प्राण का प्रवर्त्तक है।

पितर प्राण प्रतिष्ठात्मक तत्त्व—

दूसरे शब्दों में अङ्गिरागर्भित भृगु-सोम पितरप्राण का प्रभव है, एवं भृगु-गर्भित अङ्गिरोऽग्नि देव-प्राण का जनक है। पितर भृगुप्रधान होते हुए सौम्य हैं, देवता अङ्गिरा प्रधान बनते हुए आग्नेय हैं। इसी प्रकार यजु के यत् भाग को हम देव-प्राण की मूल प्रतिष्ठा बतला सकते हैं, कारण वही तो वाग् द्वारा अबात्मक अङ्गिरारूप में परिणत होता है। एवं 'जू' रूप वाक् भाग को पितर-प्राण की मूल प्रतिष्ठा कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में प्राण-प्रधान वाङ्मय अग्नि देवसृष्टि का कारण है एवं वाक्-प्रधान प्राणगर्भित सोम पितृ-सृष्टि का आरम्भक है। प्राण मन के लिए हित है, वाक् उपहिता है। अर्थात् प्राण मन पर साक्षात् रूप से प्रतिष्ठित है, वाक्तत्त्व मन पर परम्परया प्रतिष्ठित है। ऐसी स्थिति में वाक् की अपेक्षा प्राण का मन के अति सन्निकट रहना स्वतः सिद्ध है। इधर देवता को हमने प्राणमय बतलाया है। यही कारण है कि प्राण-प्रधान देव-तत्त्व को अन्तरात्मा में प्रतिष्ठित करने के लिए प्रधानरूप से मन का (भाव का) आश्रय लेना पड़ता है। पितरतत्त्व वाङ्मय है, यह मन से विदूर पड़ता है, अतः इसे आत्मा में प्रतिष्ठित करने के लिए वाक्-प्रपञ्च (मन्त्रोच्चारणरूपा शब्दवाक्) का आश्रय लेना पड़ता है। पितर वाक् से प्रसन्न हो जाते हैं। इसी विज्ञान के आधार पर अभियुक्त कहते हैं—

"पितरो वाक्यमिच्छन्ति भावमिच्छन्ति देवताः।"

अब तक के कथन का निष्कर्ष यह हुआ कि षोडशीगर्भित यजुर्ब्रह्म ही वागवच्छेदेन पितरप्राण का जनक है। सीधे शब्दों में वाङ्मय ऋषि ही पितरों का उपादान है—

१—ऋक्—उक्थच्छन्दः }
२—साम—पृष्ठच्छन्दः } ——————→ आधारः

३—यत्—अग्निः (गतिलक्षणोवेदाग्निः)——————→ ऋषिः
४—जूः—सोम (स्थितिलक्षणोवेद सोमः)——————→ मन्त्रः
५—भृगुः—पितृसोमः (पितरप्राणप्रवर्त्तकः स्नेहलक्षणः)——→ पितरः
६—अङ्गिराः—देवाग्निः (देवप्राणतेजोलक्षणः)——————→ देवाः
} ——————→ आधेयाः

यजुर्ब्रह्म से उत्पन्न अब्ब्रह्म के भृगुअङ्गिरा दो विवर्त्त बतलाए हैं। यह दोनों तत्त्व अवस्थाभेद से तीन-तीन भागों में विभक्त हो जाते हैं। भृगु की घन–तरल–विरल

पितृलक्षण पवित्र सोम—

अवस्थाएँ क्रमशः **आपः–वायु–सोम** इन नामों से व्यवहृत हैं, एवं अङ्गिरा की तीनों अवस्थाएँ क्रमशः अग्नि–यम–आदित्य इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार आपोमय सुब्रह्म की ६ अवस्थाएँ हो जाती हैं। इन छओं में से आप्यप्राण ९९ भागों में विभक्त हैं, यही नवतीर्नव असुर हैं। वायव्य प्राण २७ भागों में विभक्त है, यही **सप्तविंशति-गन्धर्व** हैं। सौम्यप्राण ८ भागों में विभक्त हैं। यही अग्निष्वात्तादि आठ **पितर** हैं। इस सौम्यप्राण पर आप्य असुरप्राण का निरन्तर आक्रमण होता रहता है। परन्तु मध्यस्थ वायव्यप्राण इस आक्रमण को व्यर्थ किया करता है। आप्यप्राण वरुण प्रधान है। "यद्वै वातो नाभिवाति तत् सर्वं वरुणदैवत्यम्" इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार जिस वस्तु के साथ वायु का सम्बन्ध नहीं होता रहता वहाँ आप्यप्राणप्रधान वरुणप्राण का प्रवेश हो जाता है। कारण इसका यही है कि वायु में चतुर्थांश इन्द्र रहता है, पानी में वरुण रहता है। वरुण और इन्द्र में अश्वमाहिष्य वैर (सहजवैर) है। फलतः वायु के न रहने पर इन्द्र के अभाव से वरुण को प्रविष्ट होने का अवसर मिल जाता है। वह वस्तु सड़ने लगती है। थोड़ी देर के लिए उस वस्तु को खुली हवा में रख दीजिए, यदि वरुण उस वस्तु में अन्तर्य्याम सम्बन्ध से प्रविष्ट नहीं हुआ है तो इन्द्राक्रमण से वरुण पलायित हो जाएगा। वस्तुगत पवित्र सोमतत्त्व विकसित हो जायगा। सारा दोष नष्ट हो जायगा। पदार्थ को दुर्गन्ध से बचाना, उसे स्वस्वरूप से सुरक्षित रखना पारमेष्ठ्य **ब्रह्मणस्पति** सोम का अन्यतम कर्म्म है। पवित्र सोम के इसी पावक धर्म्म का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्ततनूर्न तदामो समश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत् समासत ॥

(ऋक् संहिता ९।८३।१)

इस विशाल अन्तरिक्षरूप समुद्र में सर्वत्र आप्य-असुर-प्राण भरा हुआ है। वह पदार्थगतसोम को नष्ट कर उसे दूषित करने की चेष्टा किया करता है, परन्तु

भृगु द्वारा विजातीय प्राण-प्रवृत्ति— वायव्यप्राण इसकी चेष्टा को व्यर्थ किया करता है। यही कारण है कि जब तक शरीर में वायव्ययप्राण (श्वास-प्रश्वास) का संचार रहता है तब तक शरीर पवित्र रहता है, इसमें वारुण दुर्गन्ध का प्रवेश नहीं हो पाता परन्तु जब वायव्य प्राण उत्क्रान्त हो जाता है तो आप्यवरुणप्राण को आक्रमण करने का अवसर मिल जाता है। इस आक्रमण से शरीरस्थ सोम नष्ट हो जाता है, फलतः थोड़े दिन पीछे ही सम्पूर्ण शरीर सड़ने लगता है। बतलाना यही है कि अप एवं सोम के मध्य में प्रतिष्ठित गन्धर्व नाम से प्रसिद्ध वायव्यप्राण ही सोमतत्त्व को स्वस्वरूप में सुरक्षित रखता है इसी आधार पर गन्धर्व सोम-रक्षक कहा जाता है। (द्रष्टव्य शतपथ ३।६।२।९)। इस प्रकार एक ही भृगु अवस्था भेद से **अप्-वायु-सोम** द्वारा क्रमशः **असुर–गन्धर्व–पितर** इन तीन विजातीय प्राणों का प्रवर्त्तक बन जाता है।

इसी प्रकार एक ही अङ्गिरोऽग्नि पहिले **अग्नि–वायु–आदित्य** इन तीन अवस्थाओं में परिणत हो जाता है। यही आठ वसु हैं। तरलावस्थापन्न वायु तरलता के तारतम्य

अङ्गिरा के ३३ विवर्त्त— से ग्यारह अवान्तर अवस्थाओं में परिणत हो जाता है। यही ११ रुद्र हैं। विरलावस्थापन्न आदित्य विरलता के तारतम्य से बारह अवस्थाओं में परिणत हो जाता है। यही १२ आदित्य हैं। इन तीनों में दो सान्ध्यप्राणों का उदय और होता है। इस प्रकार ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, २ सान्ध्यप्राण सम्भूय एक ही अङ्गिरोऽग्नि के ३३ भेद हो जाते हैं। यही सुप्रसिद्ध **त्रयस्त्रिंशत् यज्ञिय देवता** हैं। असुर संख्या में तिगुने (९९) हैं, अतएव देवासुरमय विश्व में **दिव्य विभूति** अल्प मात्रा में उपलब्ध होती है, **आसुरी विभूति** प्रभूत मात्रा में उपलब्ध होती है, दोनों की प्रतिस्पर्धा में प्रायः देवबल परास्त हो जाता है।

यद्यपि पूर्व कथनानुसार बीजरूप से देव-प्राण की उत्पत्ति आपोमय सुब्रह्म मण्डल (परमेष्ठी मण्डल) में ही हो जाती है, परन्तु इसका ज्योतिभाव से पूर्ण विकास सूर्य्य में ही होता है। इस स्थिति से सौम्य-पितरप्राण इस आग्नेय देव-प्राण का जनक बन जाता है। कारण स्पष्ट है। देवता ज्योतिर्म्मय (प्रकाश-स्वरूप) है। इस ज्योति का अन्यतम अधिष्ठाता पितृप्राणमूर्त्ति पारमेष्ठ्य सोम ही है। **"त्वं ज्योतिषा वितमोववर्थ"** **"अदधात् सूर्ये ज्योतिरिन्दुः"** इत्यादि मन्त्र प्रमाणों के अनुसार दाह्यसोम ही दाहक सौराग्नि में आहुत होकर ज्योतिर्म्मय देवताओं का उपादान बनता है। ऐसी अवस्था में हम कह सकते हैं कि **ऋषि से पितर उत्पन्न होते हैं, एवं पितरों से देवता उत्पन्न होते हैं एवं पितरगर्भित देवताओं से विश्व निर्म्माण होता है।** भगवान् मनु ने भी इसी क्रम को प्रधानता दी है।

दाम्पत्य भावमूलक विराट्-पुरुष—

प्रकरण के प्रारम्भ में कहा जा चुका है कि मैथुनी सृष्टि ही वास्तव में संसृष्टिलक्षण सृष्टि है। इस सृष्टि का मूल प्रवर्त्तक प्राण सौम्यप्राण ही है। सम्पूर्ण प्रजा का मूल यही है। सौम्य-प्राण के इसी सर्वप्रभवत्व को लक्ष्य में रख कर महर्षियों ने इसे "पितर" शब्द से सम्बोधित किया है। पूर्व कथनानुसार **ऋक्साम वयोनाध** हैं। यजुर्ब्रह्म यत्-जू भेद से द्विब्रह्म है। इस प्रकार त्रयी-ब्रह्म यत्-जू के कारण चतुर्धा विभक्त हो जाता है। उधर **षड्ब्रह्म षट्कल है**। चतुष्कल त्रयीब्रह्म **अग्नि** है। षट्कल सुब्रह्म सोम है, नारी है। **समष्टि दशकल विराट् पुरुष है**। दूसरे शब्दों में **चतुष्कल पुरुष षट्कल स्त्री के समन्वय से ही विराट् पुरुष का स्वरूप सम्पन्न होता है—**

—❀—
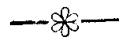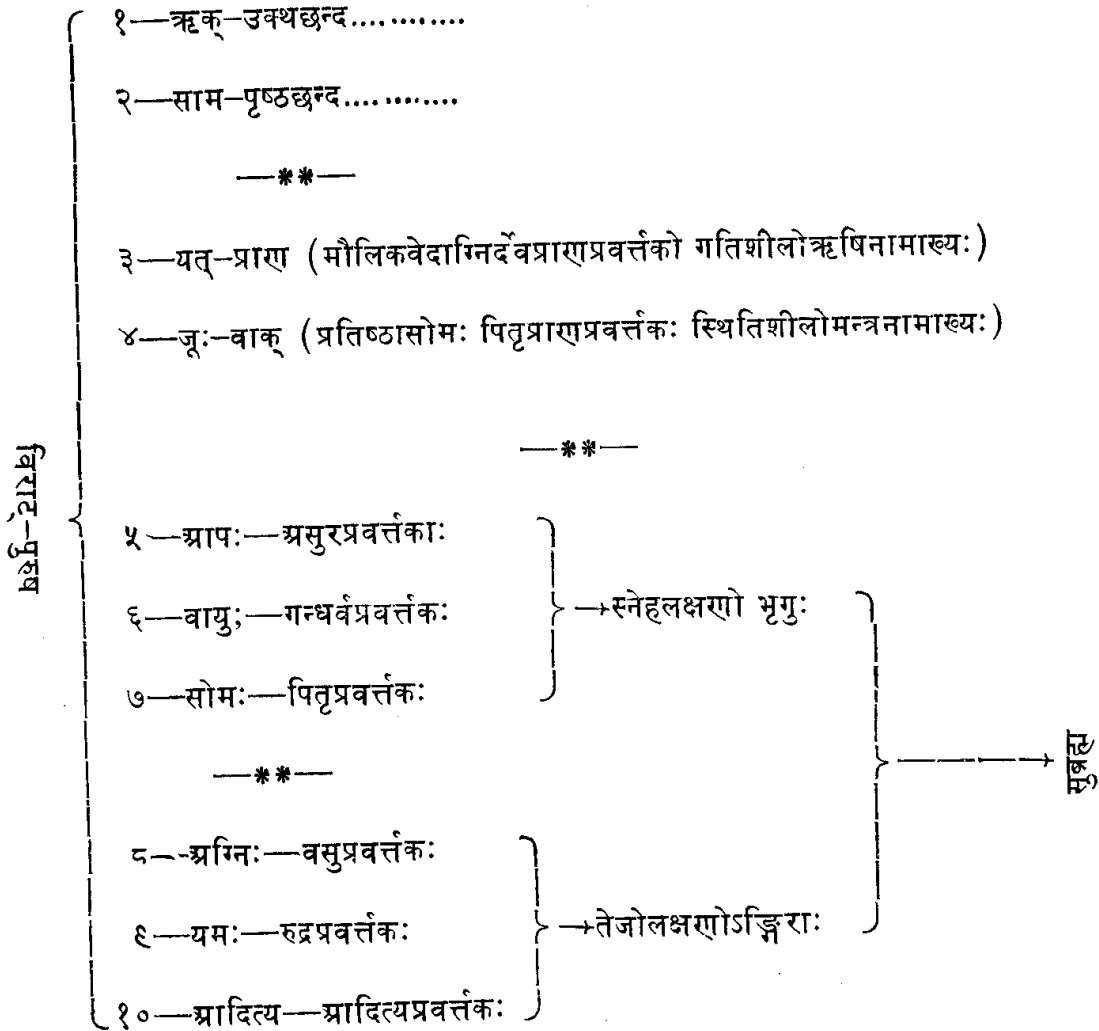
प्रकरण के आरम्भ में हमने निरुक्त ब्रह्म की **अमृत–सत्य–यज्ञ** इन तीन संस्थाओं का दिग्दर्शन कराया है एवं वहीं यह भी कहा गया है कि उक्त तीनों कलाओं में

अमृत–सत्य–यज्ञ त्रयी-मीमांसा—

से मध्य की सत्यकला **ब्रह्म** एवं **देव** भेद से दो भागों में विभक्त है। इन तीनों **ब्रह्मसत्य–देवसत्य–यज्ञात्माओं** का पूर्व प्रतिपादित **त्रयी-ब्रह्म-सुब्रह्म** के साथ ही सम्बन्ध समझना चाहिए। ऋक्सामावच्छिन्न अग्निसोममूर्त्ति (वेदाग्नि एवं प्रतिष्ठा-लक्षण सोममूर्त्ति) यजुर्ब्रह्म **ब्रह्मसत्य** है एवं अग्निसोममूर्त्ति भृग्वङ्गिरोमय स्नेहतेजोमूर्त्ति सुब्रह्म **देवसत्य** है। शुद्ध आत्मतत्त्व इन दोनों सत्यों से पृथक् है, उसे ही हमने "**अमृत**" शब्द से व्यवहृत किया है। आत्मतत्त्व के **ब्रह्म-देव** भेद भिन्न इन्हीं दोनों मीमांस्य भावों को लक्ष्य में रख कर तलवकार श्रुति कहती है—

"यदस्य (विशुद्धात्मनः) त्वं (ब्रह्मसत्य भागः) यदस्य च देवेषु (देवसत्ये) मीमांस्यमेव मन्ये विदितम्" (के० २।१)

सत्य के अतिरिक्त यज्ञ भाग और है, यह पाञ्चभौतिकप्रपञ्च की प्रतिष्ठा है। इस प्रकार आधि-दैविकसंस्थाधिष्ठाता विश्वव्यापक विश्वात्मा विश्वचर **ईश्वर प्रजापति में अमृत–ब्रह्म–देव–यज्ञ** इन **चार कलाओं की सत्ता** सिद्ध हो जाती है। जीव-प्रजापति इसी का अंश है। सुतरां इसमें भी चारों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। इन चारों में से अमृततत्त्व सदा एकरस रहता है। वह सर्वत्र समान है, कृमि, कीट, विष्ठा, ऋषि, पितर सब में समान रूप से व्याप्त है। वह सर्वथा असंस्करणीय एवं स्वतः संस्कृत है। उस पर शुभाशुभ कर्म्म का कोई लेप नहीं होता। उसके लिए कोई संस्कार अपेक्षित नहीं है। बाकी बचे हुए **ब्रह्म–देव–यज्ञ** तीनों के अंश जीवात्मा के प्रज्ञापराध से जीव संस्था में आकर दूषित बन जाते हैं।

"गुणदोषमयं सर्वं स्रष्टा सृजति कौतुकी" इस सर्वसम्मत सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति से उत्पन्न वस्तुमात्र दोषाक्रान्त रहती है। इस दोष भाव के कारण वस्तुस्वरूप

संस्कार्य्य विश्वविवर्त्त—

अपनी गुण सम्पत्ति से हीन प्रायः रहता है। यही हीनता तत्तत् वस्तु के अतिशया भाव (विकास भाव) की बाधिका है। इस प्रकार **दोष**(१), **दोषजनितहीनता**(२), **हीनताप्रयुक्त अतिशया भाव**(३), इन तीन भावों से प्राकृतिक पदार्थ नित्य आक्रान्त रहता है। अध्यात्म संस्था में रहने वाली इन्हीं तीनों विप्रतिपत्तियों को हटाने के लिए क्रमशः **दोषमार्जन**(१), **हीनाङ्गपूर्त्ति**(२), **अतिशयाधान**(३) लक्षण तीन प्रकार के संस्कार किए जाते हैं। दूसरे शब्दों में एक ही संस्कार के ये तीन अवयव हैं। उदाहरण के लिए कार्पास (कपास) तीनों से युक्त है। इसके बिनौले निकाल कर शुद्ध तूल (रूई) रूप में परिणत कर देना पहिला दोषमार्ज्जन संस्कार है। तूल को वस्त्र रूप में परिणत कर देना अतिशयाधान है, एवं घुण्डी बटन वगैरह लगाना हीनाङ्गपूर्त्ति है। निदर्शन मात्र है। वस्तुमात्र को उपयोग में लाने के लिए उक्त तीनों संस्कार परम अपेक्षित है। अध्यात्म में **ब्रह्म–देव–सत्य** ये तीन कलाएँ बतलाई हैं। तीनों का ही संस्कार

अपेक्षित है। फलतः आध्यात्मिक संस्कार तीन भागों में विभक्त हो जाते हैं। यज्ञात्मक शरीर स्थूल भूतों की शुद्धि के लिए **स्नान-उबटन** तैलमर्द्दन आदि जो लौकिक संस्कार किए जाते हैं, वे सब भूत संस्कार हैं। इनसे यज्ञमय स्थूल शरीर संस्कृत बनता है। ८ गर्भ संस्कार, ८ अनुव्रत संस्कार, ये १६ ब्राह्म संस्कार हैं। इनसे कारण-शरीर स्थानीय ब्रह्म-सत्य भाग सुसंस्कृत बनता है। ये सोलहों संस्कार **स्मार्त्त** हैं। इनके अतिरिक्त **सप्तपाकयज्ञ, सप्तहविर्यज्ञ, सप्तसोमयज्ञ** इत्यादि ३२ संस्कार-**दैवसंस्कार** हैं। इन से सूक्ष्मशरीर-स्थानीय देवसत्य भाग सुसंस्कृत बनता है। ये ३२ संस्कार **श्रौतसंस्कार** कहलाते हैं। ब्रह्मसत्य, कारणशरीर की, देवसत्य सूक्ष्मशरीर की एवं यज्ञतत्त्व स्थूलशरीर की मूलप्रतिष्ठा है। श्रौत-ब्राह्म-संस्कार, स्मार्त्त-दैव-संस्कार लौकिक भूत-संस्कार इन त्रिविध संस्कारों से द्विजाति का स्वरूप विकसित होता है। बिना इन संस्कारों के द्विज, **द्विजबन्धु** हैं। और तो और भगवान व्यास तो इन द्विजबन्धुओं को वेदाध्ययन का अधिकार भी नहीं देते। उधर संस्कारों से संस्कृत द्विज की साक्षात् ब्रह्म से तुलना करते हुए अभियुक्त कहते हैं—

संस्कारैः संस्कृतः पूर्वैरुत्तरैरपि संस्कृतः।
नित्यमष्टगुणैर्युक्तो ब्राह्मणो ब्रह्मलौकिकम्।
ब्राह्मं पदमवाप्नोति यस्मान्नच्यवते पुनः॥—(शङ्खस्मृतिः)

१—अमृतात्मा—सर्वथाविशुद्धः संस्कार मर्य्यादयाविरहितः सर्वत्र समः।

२—ब्रह्मसत्यात्मा—कारणशरीरंमनोमयम्→द्विब्रह्म—ब्राह्मसंस्काराःस्मार्त्ता—१६

३—देवसत्यात्मा—सूक्ष्मशरीरंप्राणमयम्→षड्ब्रह्म—दैवसंस्काराःश्रौताः—३२

४—यज्ञात्मा—स्थूलशरीरंवाङ्मयम्→उभयोःसमष्टिःभूतसंस्कारलौकिकाः ''

ब्रह्मसत्यात्मा यजुर्म्मय है एवं यही यत्रूप ब्रह्मप्राण **ऋषि** है। देवसत्य में भृगुअङ्गिरा भेद से **पितर देवता** इन दोनों का समावेश है। इस प्रकार अध्यात्मसंस्था के प्रति **ऋषि-पितर-देवता** इन तीनों की उपादान कारणता सिद्ध हो जाती है। उत्पन्न होने वाले प्राणीमात्र आधिदैविकमण्डलस्थ उक्त तीनों प्राणों के अंशों को ले कर ही उत्पन्न होते हैं। जब तक वे इन प्राकृतिक तत्त्वों को अपना उपादान नहीं बना लेते तब तक उनकी उत्पत्ति सर्वथा असम्भव है। उत्पन्न होने के अनन्तर भी तत्तत् विशेष कर्म्मों द्वारा जीवात्मा (केवल मनुष्य) ऋष्यादि मात्राओं को आत्मसात् कर सकता है। परन्तु उत्पन्न होने के लिए पहिले उपर्य्युक्त तत्त्वों का ऋण लेना आवश्यक हो जाता है। स्वयंभू से यह ऋषि-प्राण ले कर ऋषिऋण से ऋणी बनता है, सूर्य्य से देवप्राण लेता हुआ देव-ऋण से ऋणी बनता है एवं

ऋषि-पितृ-देव वर्गत्रयी—

पिता के शुक्र द्वारा पारमेष्ठ्य सौम्य प्राणमय पितृप्राण ले कर पितृऋण से ऋणी बनता है । इस प्रकार **ऋषिऋण-देवऋण-पितृऋण** भेद से इन तीन ऋणों का भार हो जाता है । जब तक इन तीन ऋणों का परिशोध नहीं कर डालता तब तक इसका आत्मा कथमपि मुक्त नहीं हो सकता । इनके परिशोध के उपाय हैं **ब्रह्मचर्य्यपूर्वकवेदाध्ययन, यजन,** पुत्रोत्पत्ति । ब्रह्मचर्य्य (ज्ञानचर्य्या–अध्ययनाध्यापन) ऋषि–ऋण का शोधक है । यज्ञकर्म्म देवऋण का परिशोधक है एवं पुत्रोत्पत्ति पितृऋण का अपाकरण करती है । जैसा कि आगे आने वाली "**ऋणमोचनोपायोपनिषत्**" में विस्तार से बतलाया जाने वाला है । इसी ऋण-विज्ञान को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

"जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते ब्रह्मचर्येण–ऋषिभ्यः, यज्ञेन-देवेभ्यः, प्रजया पितृभ्यः । एष वा अनृणी यः पुत्री, यज्वा, ब्रह्मचारी च"

इस श्रुति में ब्राह्मण शब्द चारों वर्णों का उपलक्षण है । हाँ, चारों के ब्रह्म. यज्ञ. प्रजा. में अन्तर है । उदाहरण के लिए शूद्र को ही लीजिए । पुराणश्रवण शूद्र का ब्रह्मचर्य्य है, द्विजाति सेवा शूद्र का यज्ञ है, प्रजोत्पत्ति में समानता है—

ब्राह्म–जगत्—

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत् ।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्म्मभिर्वर्णतां गतम् ।।—(महाभारत)

इस व्याससिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण विश्व ब्राह्म है । ब्राह्मण ही इतर तीनों वर्णों की योनि है । आगे जा कर तत्तदाधिकारिक कर्म्मविशेषों की सिद्धि के लिए, एवं तत्तत् संस्कारों की सिद्धि के लिए ऋषियों ने स्वतः सिद्ध वर्णव्यवस्था का नियमन किया है । ब्राह्मण वर्ण सबका मूल है । इसी अभिप्राय से उक्त श्रुति ने द्विजाति के स्थान में केवल ब्राह्मण शब्द के उल्लेख करने में कोई हानि नहीं समझी है ।

उक्त सन्दर्भ से यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि **पितृत्तत्त्व परमेष्ठीलोक से उत्पन्न हुआ । ऋषिप्राण इन पितरों के पितर (जनक) हैं । दूसरे शब्दों में पितरों के देवता ऋषि हैं : सृष्टिकामना से होने वाला विक्षोभ ही इनकी उत्पत्ति का द्वार है एवं मैथुनी सृष्टि उत्पन्न करने के लिए ही यह पितृ-प्राण प्रादुर्भूत हुआ है ।** इस प्रकार उक्त प्रकरण से पितृविषयक आरम्भ के सब प्रश्नों का संक्षेपतः समाधान हो जाता है ।

प्राकृतिक पितृप्राण मीमांसा—

पितरों के पितर कौन है ? यह प्रश्न सरल है परन्तु उत्तर गुहानिहित है । उक्त प्रकरण से इस प्रश्न का सम्यक् समाधान नहीं होता, इसके लिए अभी विशेष वक्तव्य है । आशा है विषय की दुरूहता को लक्ष्य में रख कर आवश्यकतानुसार होने वाले पुनरुक्तिदोष को पाठक क्षम्य मानेंगे ।

अपोमय परमेष्ठि में **पितरप्राण–देवप्राण** दोनों का विकास होता है, इन दोनों में पितर–प्राण के देवता **ऋषि** हैं, दूसरे शब्दों में पितर प्राण के जनक ऋषि हैं एवं देवप्राण का जनक **पितरप्राण** है, यह पूर्व में कहा जा चुका है। अब क्रमप्राप्त नित्य प्राकृतिक पितरों का स्वरूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जाता है। पितृयज्ञ द्वारा (जो कि यज्ञ ब्राह्मणग्रन्थों में पिण्ड पितृयज्ञ के नाम से प्रसिद्ध है) जो पितृ–तत्त्व यज्ञकर्ता यजमान के शुक्र में प्रतिष्ठित हो कर सन्तानसूत्र को वंशपरम्परा रूप से सुरक्षित रखता है, वही पितृ–तत्त्व विज्ञानभाषा में "सह" नाम से व्यवहृत हुआ है। प्रकृत में सहोबलरूप, किंवा सहोबल प्रदाता उन्हीं नित्य प्राकृतिक पितरों का निरूपण अपेक्षित है।

पृथिवीअन्तरिक्षद्यौ भेद से सौम्य त्रिलोकी तीन भागों में विभक्त है जैसा कि "प्राणात्माविज्ञानोपनिषत्" में विस्तार से बतलाया जा चुका है। लोकत्रय भेद से त्रिधा विभक्त वे नित्य–पितर क्रमशः **पर–मध्यम–अवर** नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्हीं तीनों का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

उदीरतामवर उत् परास उन्मध्यमाः पितरः सौम्यासः।
असुं य ईयुरवृकाऋतज्ञास्तेनोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥—(ऋक् सं. १०।१५।१)

मन्त्रपठित "असुं य ईयुः" "सौम्यासः" "ऋतज्ञाः" "हवेषु" इन विशेषणों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। पितर सौम्य हैं, साथ ही में ऋततत्त्व की पहिचान के कारण "**ऋतज्ञ**" नाम से प्रसिद्ध हैं। सौम्यासः" एवं "ऋतज्ञाः" का तात्पर्य यही है कि **पारमेष्ठ्य भार्गव सोम ही पितृप्राण की आधारभूमि है।** दूसरे शब्दों में पारमेष्ठ्य सोम–प्राण ही पितर हैं। यह पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व—

ऋतमेव परमेष्ठि ऋतं नात्येति किञ्चन।
ऋते समुद्र आहित ऋते भूमिरियंश्रिता ॥ (तै० स० १।५।५।१)

इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार ऋत है। सौम्य प्राण ऋत प्रधान है अतएव इसे "ऋतज्ञ" कहना अन्वर्थ होता है। प्रकारान्तर से यों समझिए। अङ्गिराप्रधान देवता सत्यमूर्ति अग्नि के सम्बन्ध से जैसे "सत्यसंहिताः" कहलाते हैं एवमेव भृगुप्रधान पितर ऋतमूर्ति सोम के सम्बन्ध से "ऋतसंहिताः" कहला सकते हैं। मन्त्र ने पितर को प्राणप्रद कहा है। वास्तव में बात यथार्थ है। "अन्नमयं हि सौम्यमनः, आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक् (छा०उ०) इस औपनिषत् सिद्धान्त के अनुसार प्राणतत्त्व की प्रतिष्ठा अप्तत्त्व ही है। प्राण की नग्नता पानी से ही हटती है "आपो वा अनग्नता"; सचमुच पानी से प्राण विकसित होता है। स्नान करने से भी प्राणाग्नि प्रज्ज्वलित हो जाता है। भोजन के आरम्भ में प्राणाचार्यों ने हस्तपादइन्द्रियादि के साथ जल का सम्बन्ध कराना आवश्यक समझा है। अपउपस्पर्श से तत्तत् इन्द्रिय प्राणाग्नि प्रदीप्त हो जाता है। प्राणाग्नि को प्रदीप्त करने के लिए ही धर्म्माचार्यों ने भोजन-यज्ञ के आद्यन्त में **अमृतोपस्तरण अमृतापिधान रूप** आचमन का विधान किया है। पानी ही प्राण की वर्त्तनी

(पात्री) है बिना पानी के प्राणतत्त्व सचमुच नग्न है, स्वस्वरूप से अप्रतिष्ठित है। इसी प्राण की स्वरूप रक्षा के लिए प्रत्येक दैनिक–मासिक–वार्षिक कर्म्मों में स्थान-स्थान पर "अप उपस्पृश्य–अप उपस्पृश्य" यह विधान उपलब्ध होता है। "प्राणाग्नय एवैतत् पुरेऽस्मिन् जार्गत्ति" (पिप्पलादोपनिषत्) के अनुसार शरीरगत प्राण अग्निमूर्ति है। अग्नि अन्नाद है। एवं अन्न ही अन्नादाग्नि की प्रतिष्ठा है। उधर पितृ–प्राण सौम्य होने से अन्नाद प्राणाग्नि का अन्न है। जब तक इस सोमरूप पितृतत्त्व का इस प्राणाग्नि के साथ सम्बन्ध रहता है, तभी तक यह प्राण–तत्त्व स्व-स्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है। इस दृष्टि से भी हम सौम्य प्राणात्मक पितर को आग्नेय प्राण का रक्षक मानने के लिए तय्यार हैं। आपको यह जान कर आश्चर्य होगा कि शास्त्रज्ञान से सर्वथा अपरिचित लौकिक मनुष्य भी अपनी व्यवहार भाषा में पितृतत्त्व का प्राणाग्नि के साथ सम्बन्ध बतलाया करते हैं। जिस मनुष्य का प्राणाग्नि शिथिल रहता है, वह उदासीन रहता है, आलसी बना रहता है, अकर्म्मण्य बना रहता है। इसका एकमात्र कारण यही है कि प्राण को प्रदीप्त करने वाला इसका पितृप्राण मूर्छित रहता है। ऐसे व्यक्ति के लिए लोक में "अरे! यह तो आजकल ऐसा सुस्त हो रहा है, जैसे इसके घर के मर गए हों, **बाप दादे मर गए हों**, यह व्यवहार देखा जाता है। वास्तव में उक्त व्यक्ति के शुक्र में प्रतिष्ठित पिता पितामहादि के द्वारा (श्रद्धा सूत्र के आधार पर) आया हुआ प्राणप्रद **पितृमूर्ति** सहोभाग प्रतिमूर्च्छित रहता है। सहोमूर्ति–प्राणप्रद–पितर के इसी स्वरूप–धर्म्म को लक्ष्य में रखकर "असुं य ईयुः" यह कहा है। सौम्यभाव शान्त है, क्रूरता से रहित है अतएव सौम्य पितरों को "अवकाः" कहा है। यजुर्वेद के वाक्–भाग से ही पितरों का विकास हुआ है, जैसा कि पूर्व प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। वाङ्मय इस पितृप्राण को आत्मसात् करने का एकमात्र उपाय है यथाविधि वाक् प्रयोग। पितृकर्म्म में आहुति (पिण्ड) भाग गौण है। वाक् भाग (मन्त्रोच्चारण) प्रधान है "**पितरो वाक्यमिच्छन्ति**" पितरों के इसी वाग्धर्म्म को बतलाने के लिए "हवेषु" कहा है।

पर–मध्यम–अवर पितर

जिस प्रकार प्राणप्रधान देवतत्त्व अग्नि[१]–वायु[२]–आदित्य[३] भेद से तीन भागों में विभक्त होते हुए क्रमशः पृथिवी[१]–अन्तरिक्ष[२]–द्यौ[३] इन तीन लोकों में प्रतिष्ठित है, एवमेव वाक् प्रधान पितृतत्त्व अवर[१]–मध्यम[२]–पर[३] भेद से तीन भागों में विभक्त होता हुआ क्रमशः **पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ** इन तीनों लोकों में प्रतिष्ठित हो रहा है। यह तीनों पितर, किंवा एक ही पितृ–तत्त्व की तीन अवस्थाएँ क्रमशः प्रेतपितर[१]–ऋतुपितर[२]–दिव्यपितर[३] इन नामों से प्रसिद्ध हैं। द्युलोक में प्रतिष्ठित **पर पितर** दिव्यपितर हैं। द्युलोक स्वर्ग है। स्वर्ग आनन्द प्रधान है अतएव इन स्वर्गीय दिव्यपितरों को "**नान्दीमुख**" दिव्य पितर कहा जाता है। ऋतु–पितर ऋतवायुलोक (अन्तरिक्ष) में प्रतिष्ठित हैं। अन्तरिक्ष रूप मध्यलोक में प्रतिष्ठित अतएव **मध्यम** नाम से प्रसिद्ध यह ऋतुपितर **पार्वणपितर** नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रेतपितर पृथिवीलोक में प्रतिष्ठित हैं। पृथिवीलोक आवरण प्रधान होने से दुःख प्रधान है। अवरलोक स्थानीय अतएव **अवर** नाम से यह प्रेतपितर "**अश्रुमुख**" नाम से प्रख्यात हैं। पितरप्राण का शरीर

सूक्ष्मभूतों से निष्पन्न होता है। इस पितरयोनि का सांख्योक्त अष्टविध देवयोनियों में अन्तर्भाव है। भूलोकस्थ सूक्ष्मशरीरावच्छिन्न प्रेतपितरों के पैर ऊपर रहते हैं, मस्तक नीचे रहता है। इसी दुःखावस्था के कारण इन्हें अश्रुमुख कहना चरितार्थ होता है।

१—पराः—→दिव्यपितरः→नान्दीमुखाः→दिव्यलोकस्थाः (२१ द्यौः)
२—मध्यमाः→ऋतुपितरः→पार्वणाः—→आन्तरिक्ष्याः (१५ अ०)
३—अवराः→प्रेतपितरः→अश्रुमुखाः→पार्थिवाः (६ पृ०)
} पितरः सौम्याः

—❀—
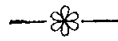
त्रिविध पितृप्राण की मूल प्रकृति—

उक्त तीनों पितरों की मूल प्रकृतिएँ क्रमशः आदित्य[1]–वायु[2]–अग्नि[3] देवता हैं। इन तीनों मूल प्रकृतियों के कारण यह पितर सौम्य[1]–याम्य[2]–आग्नेय[3] भेद से तीन भागों में विभक्त हो जाते हैं। अग्नि–यम–सोम ये तीन देवता पितृ-तत्त्व के **सहदेवता** कहलाते हैं। प्रसङ्गोपात्त पहिले इन सह देवताओं का स्वरूप ही पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जाता है।

दृश्यमान प्रपञ्च **पुरुष–प्रकृति–विकृति** भेद से तीन भागों में विभक्त है। समष्टि रूप से, एवं व्यष्टि रूप से उभयथा पदार्थमात्र उक्त तीनों भावों से आक्रान्त है। इन तीनों में पुरुष (षोडशी पुरुष नाम से प्रसिद्ध अमृतात्मा) सर्वालम्बन बनता हुआ सर्वथा असङ्ग है। दूसरे शब्दों में पुरुष केवल विश्वालम्बन है। प्रकृति विश्व की सञ्चालिका है। "प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्म्माणि सर्वशः" "मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्" (गी० ९।१०) इत्यादि वचन प्रकृति के ही कर्त्तृत्व भाव का समर्थन करते हैं। पुरुष-तत्त्व जहाँ **अमृत** नाम से प्रसिद्ध है, वहाँ प्रकृति एवं विकृति तत्त्व क्रमशः ब्रह्म-शुक्र नाम से व्यवहृत हुए हैं (द्रष्टव्य कठ०) "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" "जन्माद्यस्य यतः" इत्यादि भिक्षु सूत्रों द्वारा जन्म–स्थिति–भंग के कारणभूत जिस ब्रह्मतत्त्व का उल्लेख हुआ है, वह यही प्रकृतितत्त्व है। यह प्रकृतिब्रह्म (जिसे कि वाजसनेय ब्राह्मण ने ग्यारहवें काण्ड में **सर्वब्रह्म** नाम से भी व्यवहृत किया है) प्राण–आप–वाक्–अन्न–अन्नाद भेद से पञ्चधा विभक्त है। यही पाँचों ब्रह्म उक्त मनप्राणवाङ्मयसृष्टिसाक्षी पुरुष (अव्यय) से अनुगृहीत हो कर काम–तप–श्रम इन तीन साधारण सृष्ट्यनुबन्धों के सहयोग से स्व-स्व सृष्टि के प्रवर्त्तक वनते हैं। इन पाँचों ब्रह्मों में से प्रकृत में प्राणब्रह्म (प्राणप्रकृति) ही हमारा प्रधान लक्ष्य है क्यों कि पितर-सृष्टि का मूलारम्भक यही प्राणतत्त्व है जैसा कि प्रकरण के प्रारम्भ में कहा जा चुका है। इसी प्राणब्रह्म को हमने विशुद्ध प्राणदृष्ट्या **यजुर्ब्रह्म**, ऋक्सामावच्छेदापेक्षया **त्रयीब्रह्म** सर्वोपादानापेक्षया **ब्रह्मसत्य** इत्यादि विविध नामों से व्यवहृत किया है।

ऋषिमूर्त्ति प्राणब्रह्म के मनप्रधान **काम** (कामना), प्राणप्रधान **तप** एवं वाक्प्रधान **श्रम** व्यापार से सर्वप्रथम **ऋत–सत्य** नामक दो तत्त्व उत्पन्न होते हैं। "सहृदयं सशरीरं सत्यम्" "अहृदयमशरीरंऋतम्" **ऋत–सत्य** के यही स्वरूप-लक्षण हैं। जिस पदार्थ का नियत शरीर हो, साथ ही में वह सशरीरी पदार्थ अपना स्वतन्त्र केन्द्र रखता हुआ सहृदय हो, वही विज्ञान भाषा में सत्य कहलाएगा एवं जिस पदार्थ का न तो कोई नियत शरीर हो, न उसका कोई स्वतन्त्र हृदय हो, ऐसा अहृदय-अशरीरी पदार्थ "**ऋत**" कहलाएगा। इन दोनों में ऋत तत्त्व स्वतः गतिशील है। स्वयं स्वस्वरूप से अप्रतिष्ठित रहता हुआ स्व-प्रतिष्ठा के लिए अन्य प्रतिष्ठा की अपेक्षा रखता है। दूसरा सत्य-तत्त्व स्थितिप्रकृतिक है, यह स्वस्वरूप से गतिशून्य है। गति धर्म्मा अन्य पदार्थ के संयोग से इसमें गति-भाव उत्पन्न होता है। दूसरे शब्दों में सत्य-तत्त्व प्रातिस्विक रूप से अविचाली है, उसमें स्वयं गति नहीं है। अन्य की प्रेरणा से इसमें गति-भाव का उदय होता है। उधर ऋत-तत्त्व एकान्ततः विचाली ही है। इसमें प्रातिस्विक रूप से स्थिति का अभाव है। अन्य की प्रेरणा से इसमें स्थिति-भाव का उदय होता है। "तत्तु समन्वयात्" इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार गतिस्थितिमूलक ऋतसत्य के समन्वय से ही सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न हुआ है। उत्पन्न होने वाले प्रत्येक पदार्थ में ऋतसत्य दोनों का समन्वय है। दूसरे शब्दों में ऋतसत्य की समन्वितावस्था ही पदार्थ है। यही कारण है कि प्रत्येक पदार्थ में हमें उक्त दोनों विरुद्ध भाव प्रत्यक्ष रूप में उपलब्ध होते हैं। प्रति वस्तु परिवर्त्तनशील है, जो स्वरूप पहिले क्षण में था, अपर क्षण में उसका अभाव है, जो अवस्था अपर क्षण में है, तृतीय क्षण में उसका अभाव है। नदी के धारावेग के समान वस्तु-गत प्रत्यवयव परिवर्त्तनशील है। साथ ही में "स एवायं" यह स्थिति भी विद्यमान है। प्रत्येक वस्तु बनती हुई बिगड़ रही है, बिगड़ती हुई बन रही है, ठहरती हुई चल रही है, चलती हुई ठहरी हुई है। संभूति और विनाश दोनों का एक बिन्दु पर समन्वय है। यही तो ब्रह्म साक्षात्कार है। अमुक पदार्थ प्रतिष्ठित है, अमुक पदार्थ अप्रतिष्ठित है, इस भेद-मूलक व्यवहार का एकमात्र कारण स्थितिगति भाव का तारतम्य ही समझना चाहिए। वस्तुतस्तु ऐसा कोई प्रतिष्ठित पदार्थ नहीं है, जिसमें गतिरूपा अप्रतिष्ठा न हो, एवं ऐसा कोई अप्रतिष्ठित पदार्थ नहीं जिसमें स्थितिरूपा प्रतिष्ठा न हो। जिन्हें आप सर्वथा स्थिर समझ रहे हैं, उन पदार्थों के प्रत्येक अवयव निरन्तर विस्रस्त हो रहे हैं। समष्टि रूप से स्थिर पदार्थ प्रतिष्ठित हैं, व्यष्टिरूप से विचाली हैं। एवमेव जिन्हें आप गतिशील समझ रहे हैं उनकी प्रतिष्ठा अवश्य ही स्थिति-तत्त्व है। गतितत्त्व क्रिया है, क्रिया क्षणिक है, क्षणस्थायिनी इस क्रिया के सञ्चार के लिए अवश्य ही एक अक्षण स्थिर तत्त्व अपेक्षित है। स्थिति-तत्त्व को अपने मूल में रखे बिना गति-भाव उपपन्न ही नहीं हो सकता। शरीर के प्रत्येक अवयव (धातु) निरन्तर विस्रस्त होते रहते हैं, परन्तु समष्टि रूप से इसमें स्थिति-तत्त्व भी विद्यमान है अतएव आयु के सौ वर्ष तक "स एवायं देवदत्तः" इस प्रकार की "**वही**" रूपा प्रत्यभिज्ञा बनी रहती है। एवमेव सर्वथा गतिशील वायु में भी आप स्थिति के दर्शन कर सकते हैं। गतिभाव के कारण पदार्थों के उत्पन्न होने पर भी उनका सर्वथा अभाव हो जाय, यह असम्भव है। देशकालरूप भेद से अवश्य ही उसकी स्थिति माननी पड़ेगी। केवल गतिभाव के कारण ही उन्हें एकान्ततः नास्तिकोटि में नहीं रक्खा जा सकता है। गति भी पदार्थ है। पदार्थ का अभाव मानना विज्ञान दृष्टि से असम्भव है। इसी स्थिति भाव को लक्ष्य में रख कर गीताचार्य कहते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्व दर्शिभिः ।। (गीता २।१६)

अस्तु इस दार्शनिक विषय को हम अधिक नहीं बढाना चाहते । परन्तु यह सर्वथा सत्य है कि प्रत्येक पदार्थ में **अस्ति–नास्ति** (स्थिति-गति) दोनों भावों का समावेश है । संभूति-विनाश दोनों का एकत्र समन्वय है । सम्भूति 'अस्ति-मूला' है, विनाश नास्तिमूला है । "सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह" (ई० उ०) यह पूर्ण परीक्षित सिद्धान्त है । इन दोनों तत्त्वों में से सम्भूतिमूल अस्तित्व की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित कराया जाता है ।

सत्ता स्वरूप परिचय—

अस्ति ही प्रतिष्ठा तत्त्व है । नाम–रूप–कर्म्मात्मक पदार्थ के साथ जब तक अस्ति तत्त्व का सम्बन्ध रहता है तभी तक वह स्व स्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है । जिस दिन पदार्थ में से वह अस्तितत्त्व निकल जाता है उस दिन उसकी पूर्व प्रतिष्ठा उच्छिन्न हो जाती है । यह अस्ति रूप प्रतिष्ठा-तत्त्व सत्ता–विधृति–धृति भेद से तीन भागों में विभक्त है । प्रत्येक पदार्थ में इन तीनों अस्तिभावों का समावेश रहता है । वह अस्तिभाव जो पदार्थ का आत्मा बना हुआ है, जिसके रहने से पदार्थ पदार्थ है, जो अस्तिभाव अहमस्मि (मैं हूँ) इस व्यवहार की मूल प्रतिष्ठा है, वही अस्तिभाव **"सत्ता"** नाम से व्यवहृत हुआ है । यह **सत्ता भाव** उस सत् पदार्थ का मौलिक तत्त्व है । 'सतोभावः' ही सत्ता शब्द का निर्वचन है । **'सूर्योऽस्ति' "घटोऽस्ति" "पृथिव्यास्ति" "पुरुषोऽस्ति"** इत्यादि व्यवहार **आत्मप्रतिष्ठालक्षण** इसी सत्ताभाव पर अवलम्बित हैं ।

विधृति स्वरूप परिचय—

दूसरा है विधृतिरूप अस्तिभाव । "तस्माद्वा एतस्माद्वात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्या ओषधयः" (तै० उ०) इत्यादि श्रुति का तात्पर्य यही है कि आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ । आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से आपः (पानी), आपः से पृथिवी, पृथिवी से ओषधिएँ उत्पन्न हुई । आत्मा एक अस्ति भाव है । आकाश-वायु अग्नि आदि भेदों से सर्वथा निरस्त यह विशुद्ध सत्ताभाव ही आत्मब्रह्म है । जैसा कि आप्तपुरुष कहते हैं—

प्रत्यस्ताशेष भेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम् ।
वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम् ।।

यह मौलिक सत्तात्मक आत्मभाव अपने क्षर-भाग से आकाश-द्रव्य को उत्पन्न कर **"तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्"** इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार उसमें आधार रूप से प्रविष्ट हो जाता है । क्षर की अपेक्षा से आत्मा भी द्रव्य-गुण-कर्म्मय है । यह आत्मा (क्षर-प्रधान भाग से) स्वकार्यभूत आकाश में

समवाय सम्बन्ध से प्रविष्ट हो कर उसका आलम्बन बन जाता है। साधारण सम्बन्ध (संयोग सम्बन्ध) प्राविशत् है, समवाय सम्बन्ध **अनुप्राविशत्** है। आकाश इतर भूतों का विधर्त्ता है, परन्तु आकाश का विधर्त्ता कौन ? उत्तर है क्षरप्रधान आत्मा। आत्मा में अव्यय–अक्षर–क्षर ये तीन धातु प्रतिष्ठित रहते हैं। दूसरे शब्दों में उक्त तीनों धातुओं की समष्टि ही आत्मा है। पूर्व में हमने आत्म-धृति लक्षण जिस सत्ताभाव का दिग्दर्शन कराया है, उसका आत्मा के अव्ययपर्व के साथ सम्बन्ध है। सृष्टिसाक्षी अव्यय मन–प्राण–वाङ्मय है। मन-प्राण-वाक् की समुच्चित अवस्था ही सत्ता है। सत्ता रूप से अव्यय पुरुष सबका आलम्बन बना हुआ है। साथ ही में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि स्वयं अव्यय पुरुष मनप्रधान है, अक्षरपुरुष प्राण-प्रधान है, क्षर पुरुष वाक्प्रधान है। वाक् प्राणगर्भित मन प्रधान अव्यय विशुद्ध ज्ञानमूर्ति है, मन प्राणगर्भित वाक्प्रधान क्षर अर्थमूर्त्ति है एवं मध्यपतित, अतएव अव्ययक्षरधर्म्मावच्छिन्न मनोवाग्गर्भित प्राणप्रधान क्षरप्रधानरूप से क्रियामूर्त्ति रहता हुआ ही "त्रिमूर्त्ति" है। प्राण की प्रधानता से जहाँ अक्षर को क्रियामूर्त्ति माना जा सकता है, वहाँ (मध्यपतित होने से) अव्यय सम्बन्ध से इसे ज्ञानमूर्त्ति एवं क्षर सम्बन्ध से अर्थमूर्त्ति भी कहा जा सकता है। सृष्टि, क्रिया की अपेक्षा रखती है। क्रिया, एकमात्र अक्षर का धर्म्म है अतएव अक्षर को ही, गीता भाषा के अनुसार अव्यक्त प्रकृति को ही, विश्व का निमित्त कारण माना जाता है।

"तथाऽऽक्षराद्विविधाः सौम्यभावाः प्रजायन्ते तत्रचैवापियन्ति" (मुण्डक०उ०) के अनुसार अक्षर ही सृष्टि का मुख्य अधिष्ठाता है। यह प्राणमूर्त्ति है, अतएव इस प्राण सम्बन्ध से वही अव्ययरूप अस्ति-भाव विधृतिरूप में परिणत हो जाता है। प्रत्येक भौतिक पदार्थ नियत्काल पर्य्यन्त अपनी जीवन सत्ता रखता है। नियत काल समाप्त होने पर उसके भौतिक परमाणुओं का संघटन टूट जाता है। उस अवस्था में उस वस्तु के लिए हम **"इस वस्तु का अब दम निकल गया"** यह कहा करते हैं। यह **"दम"** वही प्राण-मूर्त्ति अक्षर पुरुष है। यह भौतिक परमाणु कूटं (समूह-ढेर-राशि) को अपने प्राणसूत्र से एक सीमित एवं नियत आयतन में बद्ध रखता है अतएव यह प्राणमूर्ति अक्षरतत्त्व **"कूटस्थ"** नाम से प्रसिद्ध है–कूटस्थोऽक्षर उच्यते।" जिस दिन प्राणबन्धन श्लथ हो जाता है, भूतकूट विशकलित हो जाता है। विश्व में सूर्य्य-चन्द्र पृथिवी-मनुष्य-पशु-पक्षि आदि जितने भी भौतिक पिण्ड आप देखते हैं, विश्वास कीजिए सबमें विधृतिरूप से कूटस्थ अक्षरपुरुष विद्यमान है। जब तक इनमें विधर्त्ता प्राणमूर्ति अक्षरपुरुष विद्यमान है, तब तक यह स्व-स्व कर्म्मभोग में विवश हैं। यही विधर्त्ता अक्षरपुरुष का शासन है। इसी शास्ता अक्षररूप अन्तर्य्यामी की स्तुति करते हुए वेद महर्षि कहते हैं—

"तस्य वा एतस्याक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्य्या चन्द्रमसौ विधृतौतिष्ठतः"
(शत० १४।६।८।९)

निष्कर्ष यही हुआ कि प्रत्येक पदार्थ में आत्मधृति से अतिरिक्त जो एक विधृति भाव देखा जाता है, वह अक्षररूप है। यही अव्ययास्ति का दूसरा रूप है। अव्यय सत्ता मनोमयी थी, अक्षर सत्ता प्राणमयी है।

धृति स्वरूप परिचय—

तीसरी है क्षर धातु। "क्षरः सर्वाणि भूतानि" के अनुसार क्षर भूतमय है। एक भूत दूसरे भूत का आलम्बन बन रहा है। आकाशात्मक स्वयंभू परमेष्ठी की प्रतिष्ठा है, परमेष्ठी सूर्य्य की, सूर्य्य पृथिवी की, पृथिवी चन्द्रमा एवं अस्मदादि पार्थिव प्रजा की प्रतिष्ठा है। वस्त्र की प्रतिष्ठा हमारा शरीर है। टेबिल पुस्तक की, अश्व मनुष्य की प्रतिष्ठा है। इसी आधाराधेय भावमूला प्रतिष्ठा को **"धृति"** कहा जाता है। यहाँ संयोग सम्बन्ध प्रधान है। दूसरे शब्दों में संयोग सम्बन्ध द्वारा एक द्रव्य में द्रव्यान्तर की जो प्रतिष्ठा है, वही धृति है। भूपिण्ड हमारी धृति है। इसकी धृति से हम (हमारा शरीर) प्रतिष्ठित हैं। जिस समय यह धृति हमारे शरीर से निकल जाती है, उसी क्षण आत्मा में भय का सञ्चार हो जाता है। उदाहरण के लिए अपनी गति का निरीक्षण कीजिए। आप राजमार्ग (सड़क) से जा रहे हैं। मार्ग में किसी स्थान पर एक फुट के परिमाण से जमीन ढालू आती है। यदि इस पर आप सावधानी से पैर रख कर चलते हैं तो भय का कोई अवसर नहीं है। इसका कारण यही है कि यहाँ आपकी दृष्टि धृति पर रहती है। परन्तु असावधानी से यदि दो इञ्च ढालू जमीन पर भी आपका पैर पड़ जाता है तो तत्काल आपका आत्मा कम्पित हो पड़ता है। कलेजा काँप उठता है, आत्मा में धक्का सा लगता है। कारण इसका यही है कि असावधानी के कारण तत्स्थान रूपा धृति का आपके साथ सम्बन्ध नहीं होने पाता। सावधानी से आप बड़े ऊँचे से कूद सकते हैं, असावधानी से जरा भी ऊँचाई से गिर पड़ना भय का कारण बन जाता है। प्रत्येक भूत को, एवं भौतिक पदार्थ को स्वगति की रक्षा के लिए यह क्षरात्मिका धृति प्रतिष्ठा अपेक्षित है। अस्ति अव्यय का रूप है। यही मनप्रधान अव्यय की दृष्टि से सत्ता है, प्राण-प्रधान अक्षर दृष्ट्या विधृति है, वाक्प्रधान क्षरदृष्ट्या धृति है। मन–प्राण–वाक् समष्टि को ही अस्ति कहा गया है एवं इसी को सृष्टि-साक्षी अव्यय माना गया है। इस प्रकार एक ही अव्ययास्ति अव्यय–अक्षर–क्षर भेद से सत्ता–विधृति–धृत्ति इन तीन स्वरूपों में परिणत हो जाती है। सत्ता स्वप्रतिष्ठा है। धृति परप्रतिष्ठा है। विधृति उभयप्रतिष्ठा है। सत्ता के उच्छेद में वस्तुविनाश है, विधृति की उत्क्रान्ति में वस्तु-स्वरूप परिवर्तन है, धृतिनाश में भय है—

मन प्राणवाङ्मूर्त्तिरव्ययपुरुषः—"अस्तिब्रह्म"

१—अव्ययः———→मनप्रधानोज्ञानमूर्त्तिः——→मनः
२—अक्षरः———→प्राणप्रधानः क्रियामूर्त्तिः—→प्राणाः
३—क्षरः———→वाक्प्रधानोऽर्थमूर्त्तिः——→वाक्
(१–३) ——→संघातोऽस्तिभावः।

—※—

१—सत्ता—→आत्मप्रतिष्ठामनोमयी——→स्वप्रतिष्ठा——→अव्ययप्रधानावस्तुरूप समर्पिका।

२—विधृतिः—→प्राणप्रतिष्ठाप्राणमयी—→उभयप्रतिष्ठा—→अक्षरप्रधाना वस्तुस्वरूप रक्षिका।

३—धृतिः—→भूतप्रतिष्ठा वाङ्मयी——→परप्रतिष्ठा—→क्षरप्रधाना भूतालम्बन रूपा।

इस प्रकार उपर्युक्त निदर्शन से यह सिद्ध हो जाता है कि एक ही अस्तिभाव आत्मपर्व भेद से तीन भागों में विभक्त हो जाता है। त्रेधा विभक्त अस्ति तत्त्व ही आत्मा है,

आत्मसत्य स्वरूप परिचय—

आत्मा ही सत्यब्रह्म है। आत्मसत्य की सत्ता–विधृति–धृति इन तीनों पर्वों की समान व्याप्ति है। इसी आधार पर, आत्म-सत्य के आधार पर प्रतिष्ठित देवताओं के लिए **"त्रिःसत्ता वै देवाः"** यह कहा जाता है। जिस तत्त्व की अपेक्षा से नाम–रूप–कर्म्मात्मक पदार्थ में "अस्ति" यह बोध होता है, वही **प्रतिष्ठाब्रह्म** है, वही है, जो है—सत्य है। यह सत्य तत्त्व किंवा **"अस्तिब्रह्म"** प्राणमूर्त्ति अतएव ऋतरूप अक्षर तत्त्व के समन्वय से **हरति–द्यति–यच्छति** इन तीन भावों से युक्त होता हुआ, हृदयरूप में परिणत हो जाता है। अन्नादान के लिए प्राण-मूर्त्ति उक्थ अक्षर से अशनाया सूत्र निकलता है। अशनाया सूत्र से आकर्षित अन्न अग्नि में आहुत होता है। अन्नाहरणावच्छिन्न वही प्राणाग्नि "हरि" है। अन्न सम्बन्धेन अन्तर्व्याप्नोति, अन्तर्विशति इस व्युत्पत्ति से "विष्णु" कहलाता है।

अन्नादाग्नि में आया हुआ अन्न क्रमशः विस्रस्त होता रहता है। विस्रस्त्यवच्छिन्न वही प्राण अश-नाया को प्रदीप्त करता है। विस्रस्ति से कमी होती है। कमी से बुभुक्षा का

नाभि–प्रधि–भाव

सञ्चार होता है। विना अन्न के अग्नि क्षुब्ध हो जाता है, यही इसकी दीप्ति है, अतएव इस विस्रस्तिधर्म्मा उद्दीपक हृदयप्राण को "अ ईन्धे, उद्दीपयति" इस व्युत्पत्ति से **इन्द्र** कहा जाता है। आदान आगति है, विस्रस्ति गति है। दोनों का नियन्ता, दूसरे शब्दों में दोनों का भर्त्ता स्थिति प्रधान प्राण ही **"बिभर्त्ति सर्वं, धारयति नियमयति"** इस व्युत्पत्ति से **भर्म्मन्** कहा जाता है। नैरुक्त निर्वचन क्रमानुसार परोक्ष भाषा में यही भर्म्मन् र्–ह् विपर्य्यास से **"ब्रह्मा"** कहलाता है। अक्षर को हमने प्राण–प्रधान होने से प्राणमूर्ति कहा है। साथ ही में प्राण को क्रियाशक्तिमय बतलाया गया है। क्रिया गति–तत्त्व है। अक्षर का यही वास्तविक स्वरूप है। केवल गति–तत्त्व ही गति के तार-तम्य से हरति–द्यति–यच्छति, इन तीन रूपों में परिणत हो जाता है। केन्द्र प्रतियोगिनी प्रधि (परिधि–वस्तुसीमा) अनुयोगिनी गति, **"गति"** है। केन्द्रानुयोगिनी प्रधि–प्रतियोगिनी वही गति **"आगति"** है। **आगति** आहरण की अधिष्ठात्री है। गति निर्गमन की अधिष्ठात्री है। दोनों का समन्वित रूप ही **स्थिति** है। इन्द्राविष्णू गतिस्वभाव हैं, ब्रह्मा स्थितिस्वभाव है। **उत्क्षेपण** इन्द्र का धर्म्म है, **अवक्षेपण** विष्णु का धर्म्म। दोनों की प्रतिष्ठा रूप **नियन्त्रण** ब्रह्मा का धर्म्म है। कहने के लिए तीनों देवता पृथक्-पृथक् हैं। वस्तुतः एक ही तत्त्व के तीन विवर्त्तमान हैं। इसी आधार पर **"एकामूर्तिस्त्रयोदेवा ब्रह्माविष्णुमहेश्वराः"** यह कहा जाता है। अक्षर तत्त्व को विधृति–प्रतिष्ठा बतलाया गया है। यही स्थितिमूल बनता हुआ **"यम्"** है, गति सम्पर्क बनता हुआ "द" है, आगति प्रधान बनता हुआ **"हृ"** है। एक ही प्रतिष्ठा ब्रह्म के **हृ–द–यम्** यह तीन रूप हैं। हृदय (केन्द्र) में यह हृ–द–य–रूप अक्षर तत्त्व प्रतिष्ठित हैं। हृदय और अक्षर तत्त्व एक प्रकार से पर्य्याय हैं। एक ही अक्षर में हृ–द–यम् ये तीन अक्षर हैं। इसी त्रिमूर्ति अक्षर की स्तुति करते हुए वेदविद् कहते हैं—

"नमस्त्रिमूर्त्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने"

हृदय में प्रतिष्ठित रहने वाला हृदयरूप अक्षर-तत्त्व-"**सहृदयं सशरीरं सत्यम्**" के अनुसार सत्य है। यह सत्य तत्त्व ऋतभाव के संसर्ग से **प्रधि-नाभि** इन दो भावों में परिणत हो जाता है। ऋततत्त्व **अन्न** है सन्य तत्त्व **अन्नाद** है। अन्नाद सत्य में ऋत अन्न निरन्तर आहुत होता रहता है। हृदय से प्राण रूप में परिणत होकर निकलने वाले अशनाया सूत्र से आकर्षित अन्न सोममय है। यह सोम ऋततत्त्व है। इस ऋत की नाभि वही हृदय है। आहुत ऋतान्न की प्रतिष्ठा हृदय स्थान ही है क्योंकि नाभि के चारों ओर सारे ऋत भाग नाभि से बद्ध हो कर प्रतिष्ठित रहते हैं। इस प्रकार नाभि-सूत्र के आधार पर प्रतिष्ठित यह ऋततत्त्व जितने प्रदेश में (सत्य तत्त्व के आधार पर) धृत रहता है, वह बहिः सीमा ही तत्तद् वस्तु की **प्रधि** कहलाती है। इस प्रधि भाग का यह हृदय (नाभि) स्पर्श किए रहता है अतएव "स्पृशति हृदयं" इस व्युत्पत्ति से इस प्रधि को "**पृष्ठ**" कहा जाता है। अथवा यह बहिः सीमा हृदयभाव का चारों ओर से स्पर्श करके ही स्व स्वरूप से प्रतिष्ठित हो रही है, इसलिए "**हृदयं सर्वतः स्पृत्वा-तिष्ठति**" इस व्युत्पत्ति से इसे प्रधि नाम से व्यवहृत किया जाता है। हृदय सत्यतत्त्व की साक्षात् प्रतिमा है। प्रधि ऋत की प्रतिमा है। सम्पूर्ण सत्यभाव ऋत के गर्भ में रह कर ही अपने स्वरूप को प्रतिष्ठित रखने में समर्थ होता है। इसी आधार पर "**ऋतेभूमिरियंश्रिता**" यह कहा जाता है। साथ ही में सारे ऋत भाव हृदय रूप सत्य के आधार पर प्रतिष्ठित हैं। ऋततत्त्व सत्य में ओतप्रोत हैं। दोनों परस्पर ओत-प्रोत हैं। दोनों में कौन पूर्वभावी है, कौन पश्चाद् भावी है ? यह अचिन्त्य है। परन्तु यह अचिन्त्य भाव विश्व की अपेक्षा से ही सम्बन्ध रखता है। विश्व में सत्य-ऋत के पौर्वापर्य्य विवेक सम्भव नहीं हैं परन्तु विश्व के मूल तत्त्व का अन्वेषण करने पर ऋततत्त्व को ही पूर्वज मानना पड़ता है। कारण स्पष्ट है। विश्व सहृदय होने से ससीम है। विश्वातीततत्त्व असीम है। उसमें सीमाभाव सम्पादक एवं सत्यस्वरूप समर्पक हृदय का अभाव है। वही मौलिक तत्त्व है। इसी आधार पर "ऋतं नात्येति किञ्चन" यह कहा जाता है। अस्तु विश्वातीत अवस्था में कुछ भी हो, विश्वदशा में ऋत-सत्य दोनों सहचारी हैं। "**ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत**" यह निश्चित सिद्धान्त है। ऋत-सत्य के इसी अविनाभाव सम्बन्ध को लक्ष्य में रख कर "**ऋतं सत्येऽधायि सत्यंऋतेऽधायि**" यह कहा गया है। ऋत बहिः सीमा है, सत्य अन्तः सीमा है। ऋत आत्मा का **महतोमहीयान्** रूप है, सत्य **अणोरणीयान्** रूप है। बहिः सीमा प्रधि है, अन्तः सीमा नाभि है। इस प्रकार ऋत अन्न के सम्बन्ध से प्रत्येक पदार्थ में नाभि-प्रधि ये दो भाव उत्पन्न हो जाते हैं।

सर्व प्रतिष्ठा तत्त्व

यद्यपि हम यह कह चुके हैं कि विश्वसीमा के भीतर ऋत सत्य के पौर्वापर्य्य का निर्णय करना कठिन है, तथापि स्थूल-दृष्टि से विचार करने पर यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होती कि जिस प्रकार मूलावस्था में ऋततत्त्व पूर्व है, सत्य पश्चाद्भावी है, ठीक इसके विपरीत मूलावस्था रूप विश्व में सत्य का स्थान प्रथम एवं मुख्य है, ऋत का स्थान द्वितीय एवं गौण है। सर्वप्रथम हृदयभाव उत्पन्न होता है। जब तक हृदय नहीं, तब तक अशनाया नहीं। बिना अशनाया के ऋतान्न का सम्बन्ध नहीं। अन्नाद अन्न के लिए नहीं है, अपितु अन्न अन्नाद के लिए है। भोक्ता भोग्य के लिए नहीं है, अपितु भोग्य भोक्ता के लिए है। जीवन भोजन के लिए नहीं है, अपितु भोजन जीवन के लिए है। भोक्ता आधार है, भोग्य आधेय है।

आधेय आधार की अपेक्षा रखता है। अन्न स्वप्रतिष्ठा के लिए अन्नाद की अपेक्षा रखता है। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि विश्व में सर्व प्रथम अन्नादमूर्ति हृदयरूप सत्यतत्त्व का ही विकास होता है अत-एव जहाँ विश्वातीत स्थिति को लक्ष्य में रख कर महर्षि **"ऋतं नात्येति किञ्चन"** यह कहते हैं, वहीं विश्वदृष्टि को लक्ष्य में रख कर **"सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्"** यह कहा जाता है।

सर्वाग्रज सत्य तत्त्व—

यह सत्यतत्त्व (विश्वापेक्षया) सर्वाग्रज है, अतएव **"सर्वस्याग्रे समभवत्"** इस व्युत्पत्ति के आधार पर इस अन्नाद-सत्य को **"अग्रि"** कहा जाता है। यही अग्रि परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्ष भाषा के अनुसार आज **अग्नि** नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। अग्नितत्त्व की रक्षा के लिए ऋततत्त्व सुत होता है अतएव 'सत्यस्वरूपावताराय सूयते' इस व्युत्पत्ति से इसे सोम कहा जाता है। प्रारम्भ में हमने अक्षर के **ब्रह्मा विष्णु इन्द्र** ये तीन रूप बतलाए हैं। विष्णुतत्त्व शुद्ध आगति है, इसका प्रधि से सम्बन्ध है। इन्द्रतत्त्व शुद्ध गति है, इसका नाभि से सम्बन्ध है। स्थितिमूर्त्ति ब्रह्मा एवं गतिमूर्त्ति इन्द्र दोनों के समन्वय से उपर्युक्त अग्नि नाम के सत्यब्रह्म का विकास होता है ब्रह्मेन्द्र की समष्टि, दूसरे शब्दों में ब्रह्मगर्भित इन्द्र (स्थिति गर्भिता गति) ही अग्नि है। एवमेव स्थितिमूर्त्ति ब्रह्मा एवं आगतिमूर्त्ति विष्णु दोनों के समन्वय से सोम नाम के ऋतब्रह्म का विकास होता है। ब्रह्मा विष्णु की समष्टि दूसरे शब्दों में ब्रह्मगर्भित विष्णु (स्थितिगर्भिता आगति) ही सोम है। अग्निब्रह्म विकासधर्म्मा है सोमब्रह्म संकोचधर्म्मा है। बहिर्गतिगर्भिता प्रतिष्ठा ही विकास है। एक पुष्प पर दृष्टि डालिए। पुष्प की प्रत्येक पंखुड़िएँ बाहर निकल रही हैं। सभी पंखुड़ियों में गति है। परन्तु मूल प्रतिष्ठा से यह गतिबद्ध है अतएव बाहर की ओर निकलती हुई पंखुडिएँ पुष्पमूल को छोड़ कर उत्क्रान्त नहीं होने पाती। यही पुष्प का विकास है, यही पुष्प का खिलना है। ऐसी गति जो स्थितिगर्भ में प्रतिष्ठित रहे, वही विकास है। विकास स्थिति-गति का समुच्चित रूप है। यदि गति प्रतिष्ठा को (स्थिति को) सर्वथा छोड़ देती है तो विशुद्ध इन्द्र रह जाता है। आकाश में चमकने वाली विद्युत् में प्रतिष्ठा नहीं है, अतएव तत्क्षण विद्युत् उत्क्रान्त हो जाती है। यह इन्द्र के साक्षात् दर्शन हैं—(देखिए केन०) यही गति, स्थितिगर्भिता बन कर विकासभाव को प्राप्त होती हुई अग्नि नाम से व्यवहृत होने लगती है। एवमेव शुद्ध आगति विष्णु है। यदि यह आगति स्थितिगर्भिता बन जाती है तो सोम का प्रादुर्भाव हो जाता है। अग्निब्रह्म गतिस्वभाव है, सोमब्रह्म स्थिति स्वभाव है। दूसरे शब्दों में आकुञ्चन भाव का सोम से सम्बन्ध है, प्रसारणभाव का अग्नि से सम्बन्ध है। तात्पर्य यही है कि पञ्चकोषात्मक अव्ययपुरुषानुगृहीत, ऋत का सत्यात्मक, सृष्टि प्रवर्त्तक, प्राणप्रधान अतएव गतिरूप एक ही अक्षर–तत्त्व गति–तारतम्य से [गतिसमुच्चय (स्थिति)[१], शुद्ध गति[२], शुद्ध आगति[३], स्थितिगर्भिता आगति[४], स्थितिगर्भिता गति[५] तारतम्य से] क्रमशः ब्रह्मा[१],–इन्द्र[२]–विष्णु[३]–सोम[४]–अग्नि[५] इन पाँच स्वरूपों में परिणत हो जाता है। इन पाँचों में **ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र** ये तीनों अक्षर **हृद्य** हैं। हृदय इन तीनों की आवास भूमि है। अग्नि-सोममयी प्रजा के इन तीनों हृद्य अक्षरों की समष्टि **"प्रजापति"** नाम से व्यवहृत होती है। इसी त्रिमूर्ति को "अन्तस्तिष्ठन् सन् नियमयति पदार्थ गतान् भावान्" इस व्युत्पत्ति से **"अन्तर्य्यामी"** नाम से व्यवहृत किया

जाता है। यही तत्त्व **नियति-सत्य** नाम से प्रसिद्ध है। अग्निसोमसमष्टि **"सूत्रात्मा"** नाम से प्रसिद्ध है। प्रजापति एवं सूत्रात्मा की समष्टि ही **"सर्वम्"** है। पितर–ऋषि–देवता–मनुष्य–पशु–पक्षि आदि किसी भी प्रजा के मूलतत्त्व का यदि आप अन्वेषण करेंगे तो आपको उपर्युक्त पञ्चमूर्त्ति अक्षरतत्त्व का ही आश्रय लेना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में किसी भी तत्त्व का स्वरूप-परिचय कराने से पूर्व मूलभूत अक्षर का स्वरूपज्ञान नितान्त अपेक्षित हो जाता है। इसी अपेक्षाभाव को लक्ष्य में रखते हुए अप्राकृत होते हुए भी हमने इस प्रकरण में अक्षर का स्वरूप बतलाना आवश्यक समझा है। मूलतत्त्व का निरूपण समाप्त हुआ। अब प्रकृत विषय की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

अग्नित्रयी मीमांसा—

अग्नि-सोम ही विश्व के स्वरूप समर्थक हैं। अग्नि को हमने प्रसरणशील कहा है। प्रसरणशील यह अग्नि नाभि से निकल कर केन्द्र प्रधि की ओर जाता हुआ क्रमशः चीयमान होता है। इस चीयमान अग्नि की **अमृत-मर्त्य** भेद से दो अवस्थाएँ हो जाती हैं। मर्त्याग्नि **भूताग्नि** है, अमृताग्नि **प्राणाग्नि** है। प्राण को ही देवता कहा जाता है। देवता एवं भूत, दोनों उसी हृद्यप्रजापति की सन्तान हैं। भूताग्नि याज्ञिक परिभाषा में **"चित्याग्नि"** नाम से प्रसिद्ध है। देवाग्नि (प्राणाग्नि) **चितेनिधेय** नाम से व्यवहृत होता है। भूताग्नि की अप्–फेन–मृत्–सिकता–शर्करा–अश्मा–अय–हिरण्य भेद से आठ चितिएँ हैं। इन आठों के समन्वय से वस्तुपिण्ड का स्वरूप निष्पन्न होता है। अष्टचिति के कारण ही यह भूताग्नि **"गायत्र"** नाम से प्रसिद्ध है। इसीलिए निरुक्त में **"अग्निर्भूस्थानः"** तथा यजुर्वेद में "यथाग्निगर्भा पृथिवी" इत्यादि उद्धृत प्रमाणों के अनुसार भूपिण्ड अग्नि-प्रधान है। उक्त आठ चितियों के कारण ही **"या वै सा गायत्री आसीत्, इयं वै सा पृथिवी"** (शत० १।१) के अनुसार भूपिण्ड को **"गायत्री"** कहा जाता है। **"अष्टाक्षरा वै गायत्री"** के अनुसार आठ अक्षर (प्राण) की समष्टि ही गायत्री है। इन्हीं आठ अर्थाक्षरों से पार्थिवाग्नि **"गायत्र"** कहलाता है।

दूसरा है प्राणाग्नि। भूताग्नि से जहाँ वस्तुपिण्ड का स्वरूप निष्पन्न होता है, वहाँ प्राणाग्नि से वस्तुमहिमा का स्वरूप सम्पादन होता है। प्राणाग्नि भूकेन्द्र से निकल कर वर्त्तुलवृत्त बनाता हुआ ऊपर की ओर जाता है। जाते हुए इस प्राणाग्नि की चित्यपिण्ड के आधार पर क्रमिक चिति होती है। इसीलिए **"चितेनिधीयते"** इस निर्वचन के अनुसार इस प्राणाग्नि में **"चितेनिधेय"** कहा जाता है। विस्रस्त होने वाले इस अग्नि को हमने विकासधर्म्मा कहा है। इसका प्रथम विकास **अग्नि** है, दूसरे शब्दों में विकास की मूलावस्था **अग्नि** है। द्वितीयावस्था **वायु** है, तृतीयावस्था **आदित्य** है। यही तीनों अवस्थाएँ क्रमशः घन–तरल–विरल नाम से प्रसिद्ध है। हृदयस्थ प्रजापति **अङ्गी** है, यही वस्तुपिण्ड का आत्मा है। आत्मा को ही अङ्गी कहा जाता है। अक्षर का स्वरूप बतलाते हुए हमने कहा है कि हृद्य-प्रजापति का गतिरूप इन्द्र भाग ही स्थितिरूप ब्रह्मा से युक्त हो कर अग्निस्वरूप में परिणत होता है। यह अग्नितत्त्व अङ्गी प्रजापति का रस है। अतएव **"तेजो रसो निरवर्त्ताग्निः"** इत्यादि रूप से इस प्राणाग्नि को **'रसाग्नि'** कहा जाता है। प्राणतत्त्व को ही निम्नलिखित श्रुति **ऋषि** नाम से व्यवहृत करती है—

"असद्वा इदमग्र आसीत् । तदाहुः किं तदसदासीत्–इति ऋषयो वाव तदग्रेऽसदासीत्–इति । तदाहुः—के ते ऋषय इति । प्राणा वा ऋषयः"

(शत० ६।१।१।१)

विकासधर्म्मा यह ऋषिप्राण अङ्गी (मूलाग्नि) का रसनमात्र है, अतएव वैज्ञानिकों ने इसे **"अङ्गिरस"** नाम से व्यवहृत किया है। इसी अङ्गिरा की पूर्वोक्त अग्नि–वायु–आदित्य ये तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं। अङ्गिरा तीन हैं, अतएव इनके लिए "अङ्गिरसो नः पितरो" इत्यादि कहा जाता है। इस रसाग्नि की अग्नि प्रथम चिति है। वायु द्वितीय चिति है। आदित्य तृतीय चिति है। इन तीनों की दो सान्ध्य चितिएँ और हो जाती हैं। इस प्रकार सम्भूय पाँच चितिएँ हो जाती हैं। इसी आधार पर इस रसाग्नि के लिए "पञ्चचितिकोऽग्निः" यह कहा जाता है। निष्कर्ष यही हुआ कि हृद्य अङ्गी प्रजापति का अङ्गिरा भाग अवस्थात्रय के कारण क्रमशः अग्नि–वायु–आदित्य इन तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है। ये तीनों एक ही अग्नि की तीन अवस्था मात्र हैं।

सोमत्रयी मीमांसा—

सोमतत्त्व आकुञ्चनधर्म्मा है। अग्निचिति बहिर्मुखी थी, सोमचिति अन्तर्मुखी है। प्रधि से केन्द्र की ओर इसकी चिति होती है। **प्रातः सवन–माध्यंदिन सवन–सायं सवन** इन तीन सवनों के कारण इस सोम की भी अग्निवत् **आपः–वायु–सोम** ये तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं। अपः घनावस्था है, वायु तरलावस्था है, सोम विरलावस्था है। संकोच की मूलावस्था सोम है, द्वितीयावस्था वायु है तृतीयावस्था आपः है। अग्निवत् इस सोम की भूत-प्राण भेद से दो अवस्थाएँ हैं। भूतात्मक सोम, पिण्डाग्नि का स्वरूप समर्पक है, प्राणात्मक सोम, महिमाग्नि की आधार भूमि है। यह भार्गव तत्त्व स्वसंकोचवृत्ति से उत्तरोत्तर वस्तु को भरता जाता है, दृढ़ करता जाता है, दूसरे शब्दों में वस्तु को परिपक्व बनाता है, अतएव इस ऋषि (सौम्यप्राण) को **भृगु** कहा जाता है—(भ्रस्जपाके)। इस प्रकार अग्निवत् सोम के भी तीन विवर्त्त हो जाते हैं। भू-विवर्त्त अग्निसोममय है। अग्नि सोम के अवस्था भेद से पृथिवी में अग्नि–यम–आदित्य–अप्–वायु–सोम इन ६ तत्त्वों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। अग्न्यादि तीनों भाव नाभ्यारब्ध पर्यवसान हैं, हृदय प्रतियोगी-प्रध्यनुयोगी है। अबादि तीनों भाव प्रध्यारब्ध नाभ्यवसान हैं, प्रधिप्रतियोगी, हृदयानुयोगी है। यही पृथिवी का षाट्कौशिक रूप है।

यम स्वरूप परिचय—

अग्नि–यम–आदित्य इन तीन **आङ्गिराओं** के साथ क्रमशः अप्-वायु-सोम इन तीन भार्गवों का घनिष्ट सम्बन्ध है। अग्नि, अप् सहयोगी है, यम, वायु सहयोगी है, आदित्य, सोम सहयोगी है। अग्नि (ध्रुवाग्नि) अप् से सहयोग करके पृथिवी रूप में परिणत हो जाता है **"अद्भ्यः पृथिवी"** के अनुसार पृथिवी का उपादान अप्तत्त्व है परन्तु **"अपां संघातो विलयनं च तेजः संयोगात्"** इस कणाद-दर्शन के अनुसार बिना अग्नि-सम्बन्ध पानी में कभी घनता उत्पन्न नहीं हो सकती। घनाग्नि के सम्बन्ध से ही पानी की अप्-फेन मृदादि

आठ अवस्थाएँ होती हैं। वस्तुतः अप्-फेन-मृदादि पानी की आठ अवस्थाएँ नहीं है अपितु अग्नि की ही उक्त आठ अवस्थाएँ हैं। अग्निघनता के तारतम्य से अप्‌भाग पृथिवी (प्रतिष्ठा) रूप में परिणत होता है।

यम का वायु के साथ सम्बन्ध है। आग्नेय वायु रुद्र है। वायव्य अग्नि को ही रुद्र कहा जाता है। विशुद्ध वायव्याग्नि संताप का कारण बनता हुआ जहाँ रुद्र कहलाता है, **"अम्बा"** नाम से प्रसिद्ध पारमेष्ठ्य पानी के सम्बन्ध से वही रुद्राग्नि शान्त बनता हुआ **"साम्ब सदाशिव"** नाम से व्यवहृत होने लगता है।

रुद्रमूर्त्ति यम, शिवमूर्त्ति वायु दोनों सहचारी हैं। इन दोनों के समन्वय से स्थिति एवं नाश इन दो विरुद्ध भावों का उदय होता है। रुद्र देवता जहाँ विनाश के अधिष्ठाता हैं, वहाँ शिवतत्त्व सम्भूति के प्रवर्त्तक हैं। तीसरे आदित्यतत्त्व का सम्बन्ध सोम के साथ है आदित्य से प्रकृत में द्युलोक स्थानीय **मघवा इन्द्र** ही अभिप्रेत है इन दोनों के समन्वय से ज्योति का उदय होता है। इस प्रकार अग्नि-अप् का यम-वायु का युग्म अन्तरिक्ष का, आदित्य-सोम का युग्म द्युलोक का अधिष्ठाता है। यही इन छओं का दाम्पत्य भाव है—
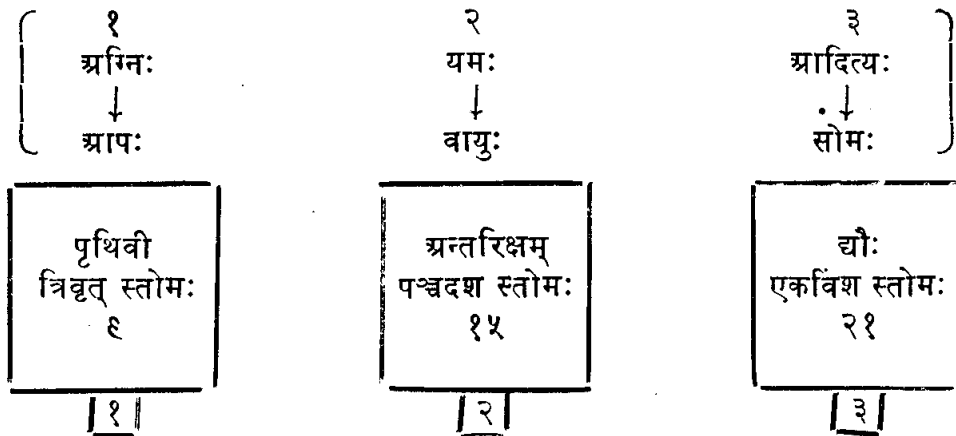
अग्नि-यम-आदित्यात्मिका अग्नित्रयी, एवं अप-वायु-सोमात्मिका भृगुत्रयी को हमने पृथक्-पृथक् तत्त्व बताया है। दूसरे शब्दों में दाहक-दाह्य भेद से अग्नि-सोम को विजातीय पदार्थ माना है। परन्तु वास्तव में दोनों अभिन्न सखा हैं। एक ही तत्त्व की दो भिन्न अवस्थाओं का नाम अग्नि-सोम है। अग्नि-सोम की इसी अभिन्नता का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

"अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥

(ऋ० ५।४४।१५)

अग्नि अन्नाद है, सोम अन्न है । अन्नात्मक सोम अन्नादात्मक अग्नि का सखा (मित्र–सहचारी) अवश्य है, परन्तु अग्नि की अपेक्षा इसका ओक (स्थान-पोजीशन-रुतबा) नीचा है। इसी अभिप्राय से **न्योका** कहा गया है। अग्नि-षोम दोनों संयुक्त देवता कहलाते हैं । अप्-वायु-सोम तीनों भार्गव-तत्त्व प्रधि की ओर से क्रमशः संकुचित होते हुए हृदय की ओर अपना रुख रखते हैं। उत्तरोत्तर हृदय की ओर आते हुए इन तीनों स्नेह लक्षण तत्त्वों के संकोच की वृद्धि होती रहती है। जब तक तीनों को पृथक्-पृथक् प्रतिष्ठित होने के लिए प्रदेश मिलता रहा है, तब तक तो इनमें संघर्ष उत्पन्न नहीं होता। परन्तु यह तीनों सौम्यतत्त्व जब प्रदेश भावरहित संकुचित होते-होते हृदय स्थान पर आ जाते हैं तो स्थानाभाव के कारण तीनों में संघर्ष हो पड़ता है । इस संघर्ष से किंवा घर्षण से तत्काल तीनों की समुच्चयावस्था विपरीतगति का आश्रय लेती हुई अग्निरूप में परिणत हो जाती है । घर्षण-बल से उत्तेजनाभाव का उदय होता है, इस उत्तेजना बल को ही **सहोबल** कहा जाता है। सहोबल ही **"साहस"** का प्रवर्त्तक माना गया है । इसी सहोबल से अग्नि का जन्म होता है अतएव अग्नि को **"सहोजा"** कहा जाता है। घर्षण प्रक्रिया ही अग्नि की जननी है । हस्त-घर्षण से ऊष्मा उत्पन्न होती देखी जाती है। संकोच की चरम-सीमा ही विकास की जननी है। भृगुत्रयी की जननी है।

अग्नि-सोम की अभिन्नता—

प्रधि से केन्द्र में आ कर अवकाश न पाने के कारण संघर्ष में आ कर विपरीत गति का आश्रय लेता हुआ वही भृगु, अङ्गिरा रूप में परिणत हो जाता है। विशकलनधर्म्मा अग्नि क्रमशः विशकलित होता हुआ हृदय से प्रधि की ओर जाता है। जहाँ तक विकास की सीमा है वहाँ तक तो अग्नि विशकलित होता रहता है परन्तु विकास की चरम सीमा पर पहुँच कर विकास की मृत्यु हो जाती है, फलतः वही विकास चरम सीमा पर पहुँच कर संकोच रूप से परिणत हो जाता है। अग्नित्रयी की यह संकोचावस्था ही सोम है। प्रधि से हृदय की ओर गति होने लगती है। इस प्रकार अवस्था तारतम्य से अग्नि-सोम बना करता है। सोम, अग्निस्वरूप में परिणत हुआ करता है। हृदय से प्रधि की ओर अग्नि का उद्ग्राभ है। प्रधि से हृदय पर्य्यन्त अग्नि का निग्राभ है। एवमेव प्रधि से हृदयपर्य्यन्त सोम का उद्ग्राभ है, हृदय से प्रधि-पर्य्यन्त सोम का निग्राभ है। अग्नि-सोम के उद्ग्राभ-निग्राभ (चढ़ाव-उतार) की विषमता ही अग्नि-सोम की मित्रता का प्रधान कारण है। यही वैषम्य दोनों के जीवन का एवं दोनों की मित्रता का जनक बन रहा है।

हृदय किंवा (वस्तु के) अन्तः पृष्ठ से (जो कि अन्तःपृष्ठ विज्ञान भाषा में स्पृश्यपृष्ठ, किंवा स्पृश्यपिण्ड नाम से व्यवहृत हुआ है) प्रधिपर्य्यन्त एक स्थिर वाङ्मय मण्डल है। यही मण्डल **"महिमा" "साहस्री"–"पुनःपद"–"विभूति"–बहिर्मण्डल–दृश्यमण्डल** आदि विविध नामों से प्रसिद्ध है। उक्त अग्नि-सोम की किंवा भृगु-अङ्गिरा की गमनागमनरूपा-स्पर्धा इसी महिमामण्डल में हुआ करती है। जिस प्रकार वस्तुपिण्ड का एक निश्चित हृदय (केन्द्र) है, एवमेव महिमामण्डल का भी एक स्वतन्त्र केन्द्र बनता है । यही महिमामयी केन्द्रशक्ति **"उद्गीथप्रजापति" "सप्तदशप्रजापति" "आहवनीय"** आदि

नामों से प्रसिद्ध है। सप्तदशस्तोमात्मक इस महिमाकेन्द्र से अर्वाक् भाग में (१७ से आरम्भ कर वस्तु पिण्ड के हृदयपर्य्यन्त भाग में) विकासधर्म्मा अग्नि का साम्राज्य है, हृदयस्थान से ही अग्नि का प्रादुर्भाव होता है, एवं महिमामण्डल के १७वें अहर्गण तक इसकी व्याप्ति रहती है। महिमा केन्द्र रूप १७वें अहर्गण से पराक् भाग में (१७ से प्रधि सीमा रूप ३३वें अहर्गण पर्य्यन्त) संकोच धर्म्मा सोम की प्रधानता है। इस प्रकार १७वें से नीचे अग्नि का, १७वें से ऊपर सोम का प्रभुत्व है। सत्रहवें स्थान में दोनों का समन्वय है। इसीलिए तो **"यत्राग्नौ आहूयते सोमः"** इस निर्वचन से इसे आहवनीय कहा जाता है। सत्रहवें से नीचे अग्नि की प्रधानता है, १७ से ऊपर संकोच की प्रधानता है। स्वयं सप्तदश स्थान पर संकोच-विकास दोनों का सामंजस्य है। यहां अग्नि-सोम दोनों बल समानावस्था से युक्त रहते हैं। दूसरे शब्दों में यहां अग्नि-सोम दोनों का नियमन हो रहा है। सोम की संकोचगति को अग्नि ने विष्टब्ध कर रक्खा है। संकोचविकास की यह स्तम्भनावस्था ही **"यम"** है। यद्यपि मध्यस्थ होने से यम में अग्नि-सोम दोनों की सता का आभास होता है, परन्तु वस्तुतः यम में अग्नि की ही प्रधानता समझनी चाहिए। कारण इसका यही है कि यम अवसान का अधिष्ठाता है, एवं अवसान सोमप्रतिबन्धी अग्नि का ही अन्यतम धर्म्म है। अग्नितत्त्व सोमानुबन्धी, सोमप्रतिबन्धी भेद से दो भागों में विभक्त है। सोमानुबन्धी अग्नि यज्ञस्वरूप सम्पर्क बनता हुआ पदार्थों की जीवन-सत्ता का कारण है। इस सोमानुबन्धी यज्ञाग्नि को अग्नि शब्द से व्यवहृत किया जाता है। **"अग्निर्वैयज्ञः"** के अनुसार अग्नि यज्ञ पर्याय हैं। सोमप्रतिबन्धी अग्नि आङ्गिरस वायु है। इसका एकमात्र कार्य्य जीवनसत्ताविच्छेद करना है। वायव्याग्निप्रधान होने के कारण इसकी सत्ता अन्तरिक्ष में माननी पड़ती है। अन्तरिक्ष मध्य लोक है अतएव इसे मध्यस्थ कहा जा सकता है। मध्यवर्ती यह वायव्याग्निमूर्ति सोमप्रतिबन्धी यमतत्त्व अपने दक्षिण भाग से अग्नि का नियमन करता है, एवं उत्तर भाग की ओर से ऊपर की ओर सर्वतः वितत होता हुआ प्रधि-स्थान में जा कर सोम स्वरूप में परिणत हो जाता है एवं प्रधिस्थ सोम ऊपर की ओर से नीचे की ओर (संकुचित होकर) आता हुआ नाभिस्थान में जा कर अग्नि रूप में परिणत हो जाता है।

अङ्गिरा-भृग-यम का पितृत्व—

अङ्गिरा (अग्नि) उत्तरोत्तर विशकलित होता हुआ प्रधि की ओर जाता है। विशकलन से यह उत्तरोत्तर सूक्ष्म हो जाता है। सूक्ष्म भाव ही अग्नि का **"तीक्ष्णीकरण"** है। इसी को तेजन (तिज निशाने-निशानं तीक्ष्णीकरणम्) कहते हैं। तेजनभाव के कारण ही इसे **"तेज"** कहते हैं एवं भार्गवसोम उत्तरोत्तर संकुचित होने कारण "स्नेहधर्म्मा" है। तेज उष्ण है, स्नेह शीत है। उपर्युक्त **मध्यपतित यम** अनुष्णशीत है। यही (अग्नि-यम-सोम, दूसरे शब्दों में अङ्गिरा-भृगु-यम) तीनों तत्त्व **"पितर"** नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्हीं तीनों का स्वरूप बतलाती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सौम्यासः।
एभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥

(यजुर्वेद १९।५०)

दक्षिण भाग नीचा कहलाता है । इसमें हमने अङ्गिरा (अग्नि) की प्रधानता बताई है । उत्तर भाग ऊँचा कहलाता है । इसमें भृगुपितर (सोम) की सत्ता बतलाई गई है । दोनों के मध्य में मध्यस्थ **यमपितर** है । यही प्रकृत के अवर-मध्यम-पर पितर हैं । अङ्गिरा **अवर पितर** है । भृगु **पर पितर** है एवं यम मध्यम पितर है । इसी अभिप्राय से—

"उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः"

यह अनुगम वचन हमारे सामने आता है ।

तत्त्वा भव्यक्ति— पाठकों को स्मरण होगा कि अङ्गिरा की हमने अग्नि-यम-आदित्य, एवं भृगु की अप्-वायु-सोम ये तीन अवस्थाएँ बताई हैं। साथ ही में यह भी आप न भूले होंगे कि मध्यस्थ अनुष्ण-शीत यम दोनों का अनुग्राहक है । ऐसी स्थिति में यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं रह जाती कि यमपितर तेजनधर्म तीन आङ्गिरस पितरों से, एवं स्नेहनधर्मा तीन भार्गव पितरों से युक्त होता हुआ **"सप्तसंस्थ"** बन जाता है । सप्त भावकृतैक इस सप्तसंस्थ पितर से ही पार्थिव-आन्तरिक्ष्य-दिव्यभाव उत्पन्न होते हैं। त्रैलोक्य में उत्पन्न होने वाली प्रजा-मात्र का उपादान यही पितरप्राण है। फलतः यह सिद्ध हो जाता है कि पार्थिव-आन्तरिक्ष्य-दिव्य सारे भाव (प्रत्येक) सप्तभावापन्न, दूसरे शब्दों में सप्तसंस्थ होते हैं। प्रत्येक वस्तुपिण्ड में तीन आङ्गिरस पितर, तीन भार्गवपितर, एक यम पितर है । अङ्गिरा-भृगु-यम की समुच्चित अवस्था ही प्रत्येक पदार्थ की अभिव्यक्ति है । अभिव्यक्तित्व ही तत्तत् पदार्थ का व्यक्तित्व है । व्यक्तित्व ही व्यक्ति की प्रतिष्ठा है । व्यक्ति ही पदार्थ है ।

तत्त्वद्वयी की व्यापकता— उक्त निदर्शन से यद्यपि अग्नि-यम-सोम इन तीन तत्त्वों की सत्ता सिद्ध हो जाती है, परन्तु **"तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते"** इस न्याय के अनुसार यम का इन्हीं दोनों में (अग्नि-सोम में) अन्तर्भाव मान लिया जाता है । इस प्रकार अन्ततोगत्वा अग्निसोम ये दो ही तत्त्व रह जाते हैं। अग्निरूप यम की सत्ता दक्षिण में है अतएव दक्षिणादिक् **याम्या** कहलाती है । यमराज को दक्षिण दिशा का दिक्पाल माना गया है । यह यमाग्नि ऋतरूप है, वायुरूप है । अन्नादि का परिपाक करना इसका प्रधान कार्य है । यही दक्षिण से निरन्तर उत्तर को जाया करता है । यही कारण है क्षेत्रस्थ अन्न का दक्षिण की ओर का भाग पहिले परिपक्व होता है, जिसका कि क्षेत्र में जाकर साक्षात्कार किया जा सकता है । दक्षिण की ओर से ही अन्न का परिपाक प्रारम्भ होता है । इसी आधिदैविक नियम के अनुसार अध्यात्म संस्था में भी मेरु-दण्ड से दक्षिण भाग में अग्नि की ही प्रधानता रहती है । भुक्तान्न का परिपाक करने वाला वैश्वानराग्नि (जठराग्नि) दक्षिण भाग में प्रतिष्ठित रह कर ही अन्न का परिपाक करता है । सोमसत्ता उत्तर में है अतएव उत्तरादिक् **सौम्या** कहलाती है। अग्नितत्त्व बल का अधिष्ठाता है । बल से दक्षता (कर्म्म सामर्थ्य-कर्म्म प्रवणता) उत्पन्न होती है । दक्षबल के कारण ही यह दिक् दक्षिणादिक् कहलाती है । सोम निरन्तर उत्तर से दक्षिण की ओर जाया करता है । यह इसकी निर्गच्छ अवस्था है । सोम ही हमारा अन्न है । यदि एतत् प्रधानादिक् की ओर मस्तक करके शयन किया जाता है तो निर्गच्छत सोम

के बलवदाकर्षण से आकर्षित शारीर-सोममात्रा के निकल जाने की संभावना है। इससे जीवन में हानि हो सकती है। इसी आधार पर "**नोदीचीना-शिराः शयीत**" (शतपथ ३।१।१।७) के अनुसार श्रुति ने उत्तर की ओर मस्तक करके शयन करने का निषेध किया है। दक्षिण से उत्तर की ओर आ कर सोमतत्त्व से युक्त होने वाला अग्निरूप यमतत्त्व शिवभाव में परिणत हो जाता है। विशुद्ध यम जहाँ अवसान का अधिष्ठाता है, सोमयुक्त वही यम शिवरूप में परिणत हो कर जीवन का हेतु बन जाता है। सोम ही इस शिव की शक्ति है। अग्नि **तेज** है, सोम **रस** है। अग्नि घोर तनू है, सोम शक्तिकारी तनू है। सम्पूर्ण शिव-शक्तिमय है, अग्निसोममय है। अग्निसोम की इसी व्यापकता का निरूपण करते हुए महर्षि जाबाल कहते हैं—

अग्निराख्यायते रौद्री, घोरा या तैजसी तनूः ।
शक्तिः सोमोऽमृतमयो, रसशक्तिकरी तनूः ॥१॥
अमृतं यत् प्रतिष्ठा सा, तेजो विद्याकला स्वयम् ।
स्थूल सूक्ष्मेषु भूतेषु, स एव रस-तेजसी ॥२॥
द्विविधा तेजसोवृत्तिः सूर्यात्मा चानलात्मिका ।
तथैव रसशक्तिश्च सोमात्मा च जलात्मिका ॥३॥
वैद्युतादिमयं तेजो मधुरादिमयो रसः ।
तेजो रस विभेदैस्तु वृत्तमेतच्चराचरम् ॥४॥
अग्नेरमृत–निष्पत्तिरमृतेनाग्निरेधते ।
अतएव हविः क्लृप्तम् अग्नीषोमात्मकं जगत् ॥५॥
ऊर्ध्वशक्तिमयः सोमः अधः शक्तिमयोऽनलः ।
ताभ्यां सम्पुरितमात्मा शश्वद् विश्वमिदं जगत् ॥६॥
अग्नेरूर्ध्वं भवत्येषा यावत् सौम्यं परामृतम् ।
यावदग्न्यात्मं सौम्यममृतं विसृजत्यधः ॥७॥
अतएव हि कालाग्नेरधस्ताच्छक्तिरूर्ध्वगा ।
सोमस्यादहनंश्चोर्ध्वस्याधस्तात् पतनं भवेत् ॥८॥
आधार शक्त्यावधृतः कालाग्निरयमूर्ध्वगः ।
तथैव निम्नगः सोमः शिवशक्ति पदास्पदः ॥९॥
शिवस्योर्ध्वमयी शक्तिरधःशक्तिमयःशिवः ।
तदित्थं शिवशक्तिभ्यां नाव्याप्तामिह किञ्चन ॥१०॥

(जाबालोपनिषद्, २ ब्राह्मण)

महर्षि जाबाल ने अग्नि एवं सोम के दो रूप बतलाए हैं। यह द्वैतभाव ऋत-सत्य भावमूलक ही समझना चाहिए। अग्नि एवं सोम दोनों ही ऋत-सत्य के सम्बन्ध से दो-दो भागों में विभक्त हैं, ऋताग्नि वायुरूप है, इसकी स्थिति दक्षिणदिक् में है। सत्याग्नि सूर्य्यपिण्ड है, इसकी सत्ता पूर्वादिक् में है। ऋत-सोम रसात्मक है, इसकी सत्ता उत्तर में है। सत्यसोम आपोमय चन्द्रपिण्ड है, इसकी प्रतिष्ठा पश्चिमादिक् मानी जाती है, जैसा कि निम्नलिखित परिलेख से स्पष्ट हो जाता है—
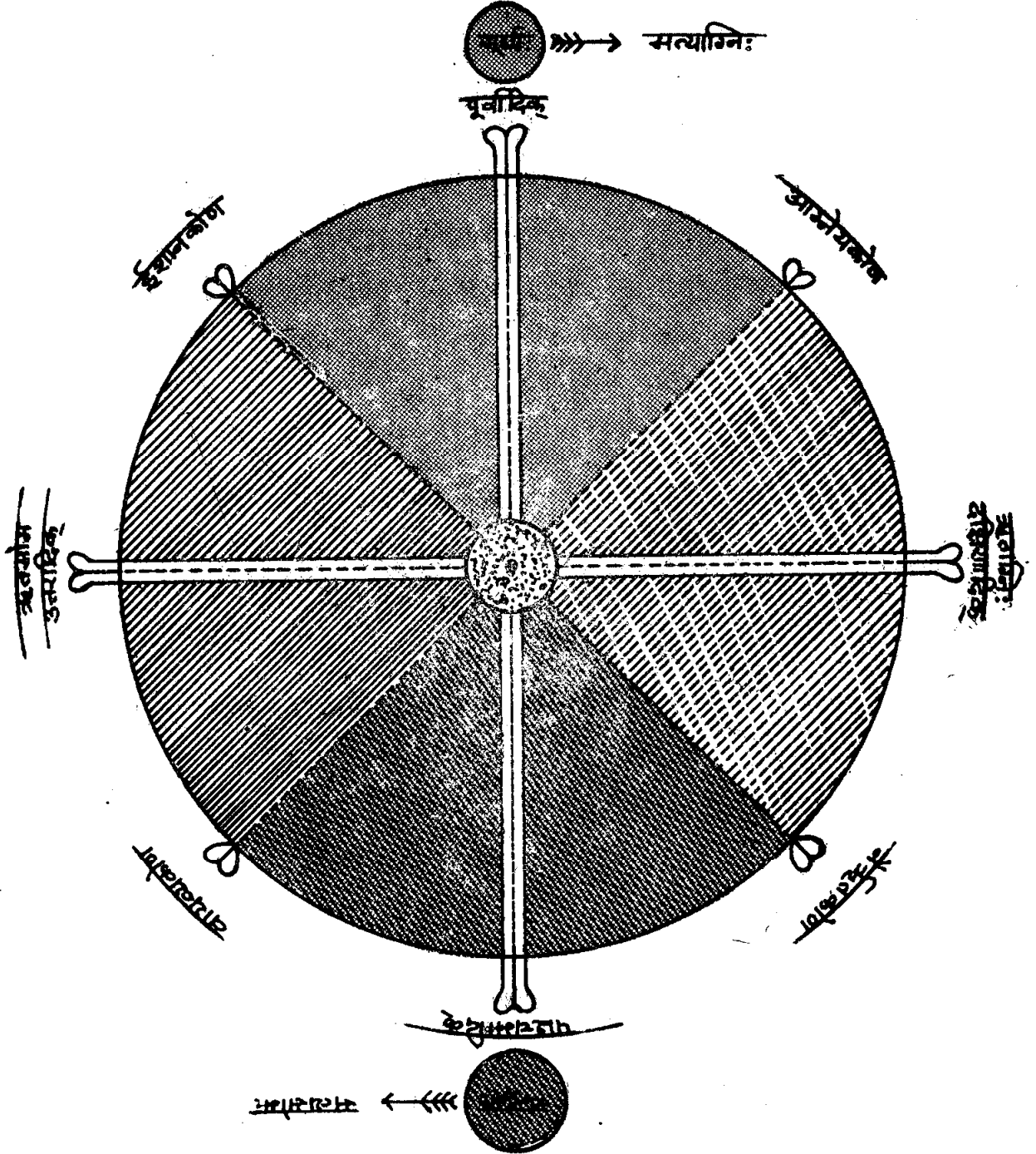
वस्तुपिण्ड के हृदय से निकल कर प्रधिभाग पर्य्यन्त वितत रहने वाले प्राणाग्नि की घन–तरल–विरल अवस्था भेद से अग्नि–यम–आदित्य ये तीन अवस्थाएँ बतलाई हैं। इन तीनों में से क्रम-प्राप्त घनावस्थापन्न अग्नि पर सर्वप्रथम दृष्टि डालिए। घनावस्थापन्न इस घनाग्नि की घनता में

अग्नि-विभूति स्वरूप परिचय—

भी तारतम्य है। इस तारतम्य से घनाग्नि की आठ अवस्थाएँ हो जाती हैं। घनाग्नि की व्याप्ति त्रिवृत्-स्तोमावच्छिन्न पृथिवीलोक (स्तौम्य त्रिलोकी नाम से प्रसिद्ध पार्थिव त्रिलोकी का पृथिवीलोक) पर्य्यन्त मानी गई है। स्वयं अग्नि **क्षत्र** है, इसकी अवान्तर आठ अवस्थाएँ **विट्** (प्रजा) हैं। अग्नि की यही आठ अवस्थाएँ, आठ वसु देवता हैं। सम्पूर्ण पार्थिव प्रपञ्च इन्हीं आठों अग्निपर्वों में निवास करता है, (बसता है) अतएव इन्हें वसु कहा जाता है। इन्हीं आठों का नाम निर्देश करता हुआ **"आर्यसर्वस्व"** पुराण कहता है—

१ २ ३ ४ ५ ६

ध्रुवो–धरश्च–सोमश्च–आपश्चैवोनिलोऽनलः।

७ ८

प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्त्तिताः॥

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८

ब्राह्मणश्रुति के अनुसार यही आठों अग्नि–पृथिवी–वायु–अन्तरिक्ष–आदित्य–द्यौ–चन्द्रमा–नक्षत्र इन नामों से प्रसिद्ध हैं। अनल अग्नि है, धर पृथिवी है, अतएव यह धरा नाम से प्रसिद्ध है। अनिल वायु है, आपः अन्तरिक्ष है, प्रभास आदित्य है, ध्रुव द्यौ है, सोम चन्द्रमा है, प्रत्यूष नक्षत्र हैं। इन्हीं आठों का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

"अग्निश्च–पृथिवी च। वायुश्चान्तरिक्षं च। आदित्यश्च द्यौश्च। चन्द्रमा च नक्षत्राणि च एते वसवः। एतेषुहीदं वसु सर्वं हितम्" (शत० ११।६।३।६) इति।

नौ–चौदह–इक्कीस–तैंतीस भेद से पार्थिवलोक चार भागों में विभक्त है। इन चारों को क्रमशः पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ–नक्षत्र इन नामों से व्यवहृत किया जाता है। नक्षत्र आपोमय हैं अतएव कहीं-कहीं नक्षत्र को "अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः" इत्यादि के अनुसार **आपः** भी कह दिया गया है। इन चारों लोकों के सञ्चालक क्रमशः अग्नि–वायु–आदित्य–चन्द्रमा ये चार लोकी हैं, लोकाध्यक्ष हैं। लोकाध्यक्षयुक्त चारों लोक ही सब की आवासभूमि हैं, वासभूमि हैं, अतएव इन आठों को हम अवश्य ही **"वसु"** कहने के लिए तय्यार हैं। पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ–आपः इन चारों का परस्पर तानूनप्त्र होता है। चारों का चारों में मिल जाना ही तानूनप्त्र है। इन चारों में मूल पृथिवी है। आठों रूप एक ही अग्नि के हैं, अग्नि त्रिवृत् स्थानीय है, अतएव पृथिवीयुक्त उक्त आठों को पार्थिव देवता ही मान लिया जाता है। इन

आठ के सम्बन्ध से छन्दोविज्ञान के अनुसार पार्थिव अग्नि को (अष्टवसुरूप अष्टाक्षर गायत्री छन्द से छन्दित होने के कारण) गायत्र नाम से व्यवहृत किया जाता है, एवं इसी अष्टाक्षर सम्बन्ध से पृथिवी को गायत्र-लोक कहा जाता है। अष्टधा विभक्त आङ्गिरसपार्थिव अग्नि की विभूतियों का यही संक्षिप्त निदर्शन है—

—❀—
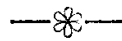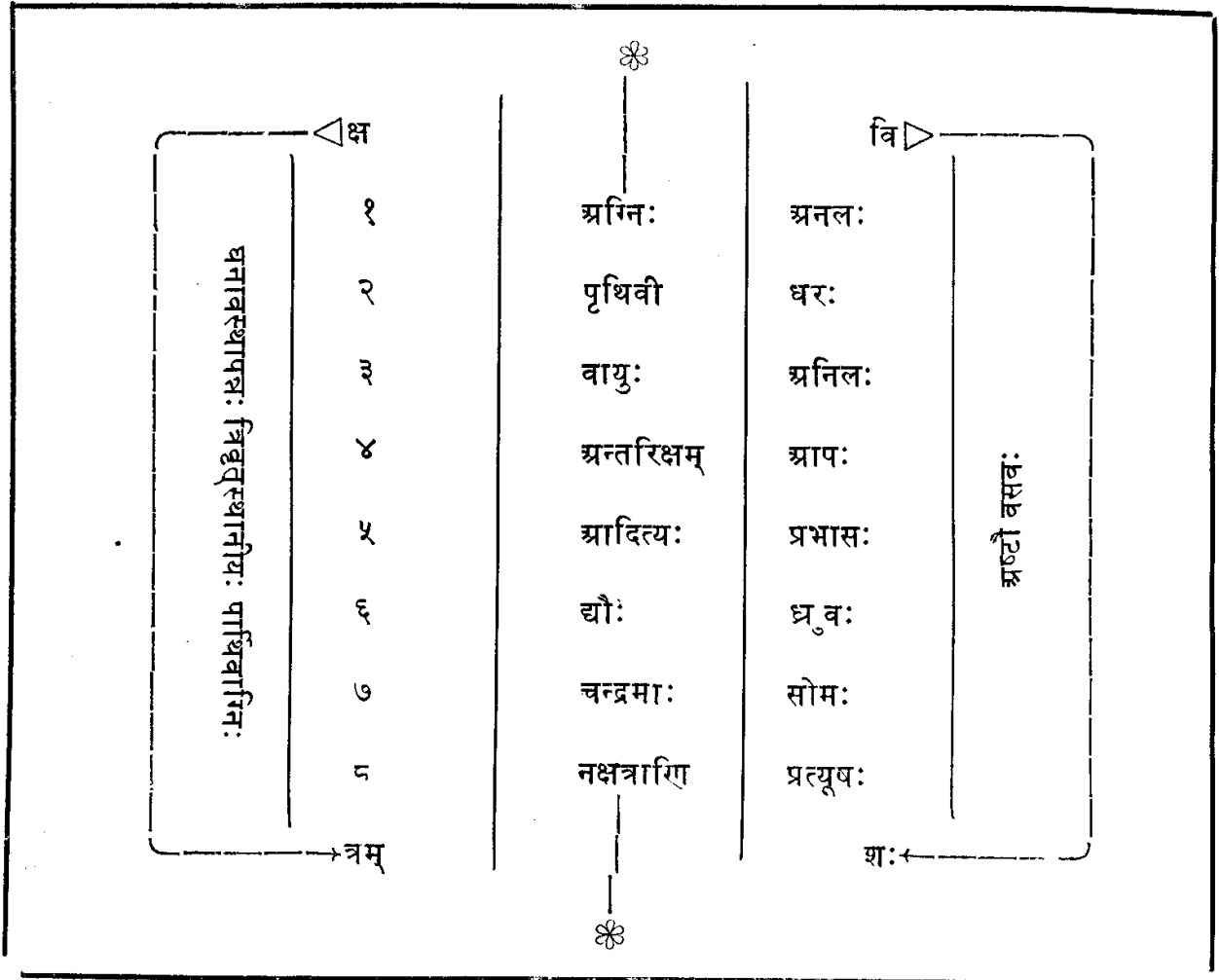
वायुविभूति परिचय— वायु एवं आदित्य दोनों अग्नि की अवस्था विशेष हैं। ब्राह्मण श्रुति में अग्नितत्त्व की **रुद्र–वरुण–इन्द्र–मित्र–ब्रह्मा** ये पाँच अवस्थाएँ मानी हैं। अग्नि की प्रदीपावस्था से आरम्भ कर उपशमनावस्था पर्यन्त श्रुति ने उक्त पाँचों अवस्थाओं का प्रत्यक्ष करवाया है। जिस समय प्रथम अग्नि को प्रज्वलित किया जाता है तो उस क्षण सहसा प्रबल वेग से ज्वाला निकल पड़ती है। ज्वाला निकलने से पूर्व फूत्कार करते-करते सहसा वेग से ज्वाला निकल पड़ती है। इस प्रथम ज्वाला के ताप में सूक्ष्मता रहती है। सन्ताप का अनुभव होता है। यह

रुद्रदेव[१] के साक्षात् दर्शन हैं। प्रथम ज्वाला के अनन्तर क्रमशः ज्वाला प्रवृद्ध होती है, ज्वाला-वेग बढ़ जाता है। इस प्रदीप्ततर अवस्था को ही वरुण कहा जाता है। आन्तरिक्ष्य अब्गर्भित सोमसम्बन्ध से ही ज्वाला प्रवृद्ध होती है एवं वरुण अप्तत्त्व के अधिष्ठाता हैं अतएव अग्नि की इस द्वितीयावस्था को **वरुण**[२] नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। जिस प्रकार दीपार्ची शान्त होने से कुछ पूर्व अपनी पूर्वावस्था की अपेक्षा अधिक प्रकाशशालिनी बन जाती है उसी प्रकार संशमनावस्था से पूर्व अपनी पूर्वावस्था की अपेक्षा यह अग्निज्वाला परम वेग से **धगत्-धगत्** शब्द करती हुई प्रज्वलित हो जाती है। इसी अवस्था का नाम **"ईन्धे"** इस निर्वचन के अनुसार **इन्द्र**[३] है। अब अग्निज्वाला शान्त होने लगती है तो इसकी सातों अर्चिएँ इतस्ततः दिशा-प्रदिशाओं में फैलने लगती हैं, इससे अग्नि का संघटन टूट जाता है, अतएव इस अवस्था में अग्नि-बल शान्त हो जाता है। उग्रता जाती रहती है। ऐसा अग्नि सुहावना लगने लगता है। अग्नि की इसी चतुर्थावस्था को **मित्र**[४] कहा जाता है। अब अग्निज्वाला सर्वथा शान्त हो जाती है तो इस अवस्था में केवल प्रदीप्त (चमकते हुए) अङ्गारे दहकते हैं। अग्नि की इसी अन्तिम अवस्था को **ब्रह्म**[५] किंवा **ब्रह्मा** नाम से व्यवहृत किया जाता है। "ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा" (शतपथ ६।१।१) के अनुसार आलम्बनतत्त्व को ही **ब्रह्म** कहा जाता है। अङ्गार ही उक्त चारों अवस्थाओं के उपादान थे, यही चारों की उपसंहार-भूमि बनती है अतः इस अवस्था को बिभर्त्ति सर्वं इस निर्वचन के अनुसार अवश्य ही **"ब्रह्म"** शब्द से सम्बोधित कर सकते हैं। अग्निदेव की इन्हीं पाँचों अवस्थाओं का दिग्दर्शन कराती हुई वाजिश्रुति कहती है—

१ "तद्यत्रैतत् प्रथमं समिद्धो भवति-धूप्यत इव तर्हि हैष भवति"————————→**"रुद्रः"**[१]

२ "अत्र यत्रैतद् प्रदीप्ततरो भवति तर्हि हैष भवति"————————→**"वरुणः"**[२]

३ "अथ यत्रैतत् प्रदीप्तो भवति, उच्चैर्धूमः परमया नूत्या बलबलीति तर्हि हैष भवति"→**"इन्द्रः"**[३]

४ "अथ यत्रैतत् प्रतितरामिव तिरश्चीवार्चिः संशम्यो भवति, तर्हि हैष भवति"———→**"मित्रः"**[४]

५ "अथ यत्रैतदङ्गाराश्चाकाश्यन्त इव, तर्हि हैष भवति"————————→**"ब्रह्म"**[५]

(शत० २।३।२)

अग्नि की उक्त पाँचों अवस्थाओं के जनक क्रमशः **वायु—आपः—तेज—सोम—प्राण** ये पाँच तत्त्व हैं। वायु के समन्वय से अग्नि **रुद्रमूर्त्ति** बन जाता है। प्रत्यक्ष में ही वायुरूप फूत्कार से ही रुद्ररूप (धूमयुक्त) प्रथम अवस्था का उदय होता है। अप् के सम्बन्ध से वही अग्नि वरुण बन जाता है। तेज के सम्बन्ध में

वही अग्नि इन्द्रावस्था में परिणत हो जाता है। सोम के सम्बन्ध से वही अग्नि मित्ररूप में परिणत हो जाता है। तथा प्राण सम्बन्ध से वही सर्वान्त में ब्रह्मरूप में परिणत हो जाता है।

—✿—

उपर्युक्त पाँचों अवस्थाओं में से प्रकृत में केवल रुद्रावस्था ही अपेक्षित है। ऐसा अग्नि जिसके साथ वायु सम्पृक्त हो गया हो, दूसरे शब्दों में अग्नि की वह तरलावस्था जो कि घनावस्था को छोड़ कर वायु-रूप में परिणत हो गई है रुद्धद्रवण भाव के कारण रुद्र नाम से प्रसिद्ध है। घन भाग रुद्ध है। रुद्ध भाग का द्रुत हो जाना ही रुद्र है, यही वायु है। केन्द्र से निकल कर प्रधि की ओर जाता हुआ अग्नि कुछ दूर तक (त्रिवृतस्तोम पर्यन्त) तो घन रहता है, रुद्ध (अवरुद्ध) रहता है। आगे जा कर पञ्चदशस्तोम स्थानीय विपुल प्रदेश पा कर अपनी रुद्धावस्था से च्युत होता हुआ वही अग्नि वायु रूप में परिणत हो जाता है। वायु अग्नि की ही द्वितीयावस्था है। ग्रीष्म ऋतु में प्रचण्ड वेग से बहने वाला सन्तापधर्म्मा वायु ही (जो ब्राह्मणग्रन्थों में सान्तपन नाम से भी व्यवहृत हुआ है) साक्षात् रुद्र है। अग्नि ही इसका मूल है। इसी आधार पर **"अग्निर्वारुद्रः"** इस कथन में कोई आपत्ति नहीं उठाई जा सकती। वायुमय अग्नि ही (जिसे राजस्थान 'लू' नाम से व्यवहृत करता है, मिथिला प्रान्त जिसे **"रौद"** नाम से सम्बोधित करता है) रुद्र का प्रधान स्वरूप है। वायुमय होने से ही रुद्र को अन्तरिक्षायतन माना जाता है। जिस प्रकार घनावस्थ अग्नि की घनता के तारतम्य से पूर्व प्रदर्शित क्रमानुसार आठ अवस्थाएँ होती हैं, एवमेव तरलता के तारतम्य से इस वायुमय रुद्र की ११ अवस्थाएँ होती हैं। अग्नि की आठ अवस्थाओं का मूल कारण जैसे अष्टाक्षर गायत्री छन्द था, एवमेव रुद्र की ११ अवस्थाओं का मूल कारण एकादशाक्षर त्रिष्टुप् छन्द है। त्रिष्टुप् का अन्तरिक्ष से ही सम्बन्ध माना गया है। आठ वसु जैसे विट् (प्रजा) थे, समष्टिरूप अग्नि जैसे क्षत्र था, एवमेव ११ रुद्र विट् रूप हैं, समष्टि रूप एक **रुद्र** (जिसकी ग्यारह अवस्थाएँ) हैं, क्षत्र रुद्र है। विट् रूप की अवान्तर असंख्य विभूतियों को लक्ष्य में रख कर जहाँ "सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्राः" (तै० सं० ४।५।११।१) यह कहा जाता है, क्षत्र-रुद्र के एकत्व को लक्ष्य में रख कर "एको रुद्रो न द्वितीयायावतस्थे" यह कहा गया है। रुद्र के इन्हीं क्षत्र एवं विट् दोनों रूपों को लक्ष्य में रख कर संचिति यज्ञ प्रकरण में "नमस्ते रुद्र मन्यवे" इत्यादि मन्त्र का व्याख्यान करती हुई वाजि श्रुति कहती है—

"स एष क्षत्रं देवः, यः स शतशीर्षा समभवत् ।
विश इमऽइतरे ये विप्रुड्भ्यः समभवन् ।" (शत० ७।१।१।१५)

उक्त विट् रुद्र (अधिदैवत संस्था में) निम्नलिखित नामों से प्रसिद्ध है—

◁क्ष ❀ वि▷

तरलावस्थापन्नः—पञ्चदशस्तोम स्थानीयः वायुमयोऽग्निरुद्रः

१	विरूपाक्षः
२	रैवतः
३	हरः
४	बहुरूपः
५	त्र्यम्बकः
६	भूतेशः
७	जयन्तः
८	पिनाकी
९	अपराजितः
१०	अजएकपात्
११	अपपतनः

एकादश रुद्राः

→त्रम् ❀ शः←

पुराणशास्त्र जहाँ **ब्रह्मा–विष्णु–महेश** इस त्रिदेववाद को प्रधानता देता है वहाँ श्रौतसिद्धान्त के अनुसार **ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र–अग्नि–सोम** भेद से **पञ्चदेववाद** को ही मुख्य स्थान दिया जाता है । इस

स्थिति में साधारण मनुष्यों को यद्यपि उक्त निगम (वेद) आगम (पुराण) सिद्धान्तों में परस्पर विरोध प्रतीत होता है, परन्तु वैज्ञानिकों की दृष्टि में अणुमात्र भी विरोध का अवसर नहीं है। अग्नि-सोम का समन्वय यज्ञ है। यज्ञसंयुक्त इन्द्र ही शिव किंवा महेश है। रुद्र-तत्त्व का जब भी हम साक्षात्कार करेंगे, हमें उसके साथ इन्द्र-सोम का सम्बन्ध मिलेगा। इन्द्र से सूर्य्य उपलक्षित है। सोम चन्द्रमा का द्योतक है, स्वयं रुद्र अग्नि है। विश्व को प्रकाशित करने वाली ये तीन (अग्नि–चन्द्र–सूर्य्य किंवा अग्नि–सोम–इन्द्र) ज्योतिएँ हैं। ये ही लोकसाक्षी, दूसरे शब्दों में लोकद्रष्टा हैं। अग्नि–सोम–इन्द्रात्मक शिव के ये ही त्रिनेत्र हैं। श्रुति शिवतत्त्व का पृथक्-पृथक् कला-विभाग बतलाती हुई इन्द्र–अग्नि–सोम तीनों का पृथक् निर्देश करती है, एवं पुराण तीनों की समष्टि का निरूपण करता हुआ तीनों को शिव शब्द से व्यवहृत करता है। इस प्रकार दोनों के सिद्धान्तों में कोई विरोध नहीं रहता।

रुद्र-प्राण के सम्बन्ध से ही पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ–समष्टि रूपा त्रिलोकी **"रोदसी"** कहलाती है। इसी आधार पर रोदसी को **"रुद्रपत्नी"** कहा जाता है। रोदसी त्रिलोकी में व्याप्त घन-भावों को, अवरुद्ध भावों को, तरल भावापन्न रुद्राग्नि द्रुत किया करता है, अतएव यह तत्त्व रुद्र कहलाता है, जैसा कि प्रकरण के प्रारम्भ में बतलाया जा चुका है। जितने भी पार्थिव पशु हैं सबका आत्मा वायु-तत्त्व ही है। आरण्य-ग्राम्य दोनों पशु वायव्य हैं। यही कारण है कि पशु से भी अधिक मात्रा में चेतना रखने वाला मनुष्य उत्पन्न होने के पश्चात् एक संवत्सर पर्यन्त स्व प्रतिष्ठा से खड़ा नहीं हो सकता। कारण इसमें पार्थिव घनाग्नि की प्रधानता है। परन्तु एक गोवत्स उत्पन्न होते ही कूदने-फांदने लगता है। यह उसी वायव्य तत्त्व के अनुग्रह का फल है। पशुओं के इसी वायव्य को लक्ष्य में रख कर **"इषे त्वोर्जे त्वा वायवस्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे"** यह कहा जाता है। इधर रुद्र-तत्त्व वायुप्रधान है। वायव्य पशुओं का निग्रहानुग्रह रुद्र पर ही निर्भर है, अतएव रुद्र भगवान् **"पशुपति"** नाम से प्रसिद्ध हैं। पार्थिव प्राणाग्नि की अपान-समान भेद से दो अवस्थाएँ हैं। सौर-प्राण की प्राण-उदान ये दो अवस्थाएँ हैं। हृदय से ऊपर इन दोनों का साम्राज्य है, हृदय से नीचे पार्थिव-प्राण का प्रभुत्व है। इन चारों को गति-आगतिशील बनाते हुए इनकी स्वरूप-रक्षा करना हृदयस्थ व्यान का कार्य है। यह व्यान-वायु आन्तरिक्ष्य होने से साक्षात् रुद्र है। कर्म्मचतुष्टयी (प्राण-उदान-अपान-समान व्यापार के) प्रेरक होने से रुद्र को चतुर्हस्त कहा जाता है। हस्त कर्म्म का निदान है। वरुण-प्रधान दूषित आप्य-प्राण को नष्ट करने के कारण ही रुद्र देवता **"शूलपाणि" "शूलहस्त" "पशुहस्त"** इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। विधिवत् आराधना करने से यही उग्रमूर्त्ति रुद्र शिव स्वरूप में परिणत हो कर, सम्पूर्ण आपत्तियों को दूर कर पीड़ित उपासक की रक्षा करते हैं, अतएव इन्हें **अभय-हस्त** कहा जाता है। स्वस्थ उपासकों का अभ्युदय, श्री-वृद्धि करने के कारण इन्हें **वरहस्त** कहा गया है। इन कुछ एक स्थूल धर्म्मों के अतिरिक्त रुद्र देवता के कई एक ऐसे सूक्ष्म कर्म्म हैं जिनका साक्षात्कार हमारी स्थूल बुद्धि नहीं कर सकती। वे सब सूक्ष्म धर्म्म हम साधारण मनुष्यों के लिए मृग्य (खोजने योग्य) हैं। इन मृग्य भावों के दर्शक होने से, दूसरे शब्दों में गुहानिहित (गुह्य) मृग्य कार्यो के पवर्त्तक होने से, इन्हें **"मृगहस्त"** कहा जाता है। इस रुद्र देवता का विकास **अधियज्ञ**(१)–**अधिभूत**(२)–**अध्यात्म**(३)–**अधिदैवत**(४)- **अध्यन्तरिक्ष**(५) इन पाँच स्थानों में होता है।

रुद्र-विकास के पाँच रुख हैं, इसी आधार पर इन्हें **"पञ्च-वक्त्र"** नाम से व्यवहृत किया जाता है। अग्नि-चन्द्र-सूर्य्य इन तीन ज्योतियों के कारण यह **"त्रिनेत्र"** नाम से प्रसिद्ध है। सर्पणधर्म्मा वायु ही इनका प्रातिस्विक भूषण है। निम्नलिखित तालिका से रुद्र देवता के पाँचों विवर्त्तों का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। अश्वत्थ नाम से प्रसिद्ध द्यु-वृक्ष के नीचे रोदसी त्रैलोक्य है। रोदसी त्रैलोक्य भूत-प्रधान है। यहीं भूतपति विराजमान है, जैसा कि पूर्व-प्रकरणों में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

	१	२	३		४	५
१	कृशानु: (आहवनीयाग्नि:)	पृथिवीमूर्त्ति: शिव:	श्रोत्रम्	श्रोत्रम्	विरूपाक्ष:	अभ्राजमान:
२	प्रवाहण: (धिष्ण्याग्नि:)	जलमूर्त्ति: शिव:	श्रोत्रम्	त्वक्	रैवत:	व्यवदात:
३	दुवस्वान् (धिष्ण्याग्नि:)	तेजोमूर्त्ति: शिव:	चक्षु:	चक्षु:	हर:	वासुकि:
४	बम्भारि: (धिष्ण्याग्नि:)	वायुमूर्त्ति: शिव:	चक्षु:	जिह्वा	बहुरूप:	वैद्युत:
५	कवि: (धिष्ण्याग्नि:)	आकाशमूर्त्ति: शिव:	प्राण:	घ्राणम्	त्र्यम्बक:	रजत:
६	विश्ववेदा: (धिष्ण्याग्नि:)	सूर्य्यमूर्त्ति: शिव:	प्राण:	वाक्	भूतेश:	परुष:
७	हव्यवाहन: (धिष्ण्याग्नि:)	चन्द्रमूर्त्ति: शिव:	वाक्	पाणी	जयन्त:	श्याम:
८	प्रचेता: (धिष्ण्याग्नि:)	विद्युन्मूर्त्ति: शिव:	उपस्थम्	पादौ	पिनाकी	कपिल:
९	मार्जालीय: (धिष्ण्याग्नि:)	पवमान: घोर:	पायु:	उपस्थम्	अपराजित:	अलोहित:
१०	अजएकपात् (नूतनगार्हपत्य:)	पावक: घोर:	नाभि:	पायु:	अजएकपात्	ऊर्ध्व:
११	अहिर्बुध्न्य: (पुराणगार्ह:)	शुचि: घोर:	आत्मा	आत्मा	अवपतन:	अवपतन:
	इत्यधियज्ञमुखा: १	इत्यधिभूतमुखा: २	इत्यध्यात्ममुखा: ३		इत्यधिदैवतमुखा: ४	इत्यध्यन्तरिक्ष मुखा: ५

भू-केन्द्र से आरम्भ कर त्रिवृत्स्तोम पर्य्यन्त घनाग्नि की सत्ता है, पञ्चदशस्तोम पर्य्यन्त तरलाग्नि (वायु) का साम्राज्य है, एवं एकविंशस्तोम पर्य्यन्त विरलाग्नि (आदित्य) व्याप्त है। विरलावस्थापन्न पार्थिव अग्नि ही अदिति के सम्बन्ध से आदित्य नाम से प्रसिद्ध हो जाता है। पृथिवी का भाग जो सूर्य्य की ओर रहता है, अदिति नाम से प्रसिद्ध है। विरुद्धभाव दिति नाम से व्यवहृत हुआ है जैसा कि **"प्राणात्मविज्ञानोपनिषत्"** में विस्तार से बतलाया जा चुका है। अदिति के सम्बन्ध से विरलाग्नि को प्रकृत में आदित्य बतलाया गया है। इस सम्बन्ध में एक प्रश्न उपस्थित होता है। भू-पृष्ठ से प्रारम्भ कर एकविंशस्तोमपर्य्यन्त अदिति का साम्राज्य है। उक्त तीनों ही अग्नि इस अदिति के गर्भ में प्रविष्ट हैं। ऐसी अवस्था में घन–तरल–विरल तीनों ही अग्नियों को आदित्य शब्द से व्यवहृत करना चाहिए। ऐसा न कर केवल विरलाग्नि को ही आदित्य शब्द से क्यों व्यवहृत किया गया ? इस प्रश्न के सम्बन्ध में हम यही कहेंगे कि अदिति का अदितिपना सौर-प्रकाश पर निर्भर है। सौरतत्त्व ही आदित्य है। इसी की व्याप्ति के कारण सूर्य्य-सम्मुख रहने वाला पार्थिव अर्द्धमण्डल "अदिति" कहलाता है। यद्यपि घनाग्नि-तरलाग्नि दोनों में भी इस सौर आदित्य प्रकाश की सत्ता है परन्तु प्रधानता इसकी विरलाग्नि मण्डल में ही है। कारण **"एकविंशो वा इत आदित्यः"** इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार पृथिवी के २२वें अहर्गण पर सूर्य्य-रूप आदित्य है, उधर १५ से २१ पर्य्यन्त विरलाग्नि का प्रभुत्व है। इसी सान्निध्य के कारण घनाग्नि एवं तरलाग्नि को आदित्य शब्द से व्यवहृत न कर केवल विरलाग्नि को ही आदित्य कहा जाता है। अग्नि-वायुवत् विरलावस्था के तारतम्य से इस आदित्य के भी अवान्तर २२ भेद हो जाते हैं। उसका मुख्य कारण है—**जगतीछन्द**। आदित्य जगतीछन्द से वेष्टित रहता है। जगतीछन्द १२ अक्षर का है। द्वादशाक्षर जगती छन्द के १२ अक्षरों के कारण ही आदित्य को १२ अवस्थाओं में परिणत होना पड़ता है। आदित्य की वे द्वादश अवस्थाएँ निम्नलिखित नामों से प्रसिद्ध हैं।

आदित्य विभूति स्वरूप परिचय—

१ २ ३ ४ ५ ६ ७
इन्द्रो–धाता–भगः–पूषा–मित्रोऽथ वरुणोऽर्यमा।
८ ९ १० ११ १२
अंशुर्विवस्वान्–त्वष्टा च सविता विष्णुरेव च ।।

सौर-प्राण १२ महीनों में विभक्त रहता है। मासावच्छिन्नप्राण एक आदित्य है। इस प्रकार द्वादश-मास के द्वादश आदित्य हो जाते हैं। मासावच्छिन्न सौर रश्मिएँ पार्थिव रसों का आदान करती हुई (रसों का शोषण करती हुई—लेती हुई) प्राणदपानत् व्यापार से आगे चलती हैं, इसलिए भी रश्म्यवच्छिन्नमासात्मक इन सौर-प्राणों को आदित्य शब्द से व्यवहृत किया जाता है। (देखिए बृ०आ०उ० ३।९।५)।

चन्द्र-कक्षा दक्ष नाम से प्रसिद्ध है। चान्द्रसोम ही पार्थिव प्रजा का उपादान है, अतएव चान्द्र सोममय दक्षमण्डल को दक्ष-प्रजापति कहा जाता है। आदित्य सम्बन्ध से इस दक्ष-कक्षा के १२ विभाग हो जाते हैं। आदित्य-प्राण कूर्म्म-प्राण में परिणत होकर ही सृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है—

"एत द्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत। यदसृजत अकरोत् तत्, यदकरोत् तस्मात् कूर्म्मः"। (शतपथ ७।५।१।५)

कूर्म्म ही त्रैलोक्य का द्रष्टा होने से, **पश्यक** होने से परोक्ष भाषा में **कश्यप** नाम से प्रसिद्ध है। द्वादशप्राणमूर्त्ति (यदि मलिम्लुच नाम से प्रसिद्ध अधिकमास का भी ग्रहण कर लिया जाता है तो त्रयोदश-प्राणमूर्त्ति) कश्यप प्रजापति के सम्बन्ध से दक्षवृत के १२ अथवा १३ विभाग हो जाते हैं। दाक्षायणी नाम से प्रसिद्ध ये ही कश्यप की पत्निएँ हैं। दक्षवृत्त सोमप्रधान होने से योषा (स्त्री) है। आग्नेय-प्राण प्रधान कश्यप वृषा (पुरुष) है। दोनों के मिथुन से ही सब कुछ उत्पन्न होता है, एवं हुआ है। **"कश्यपात् सकलं जगत्" "सर्वाः प्रजाः काश्यपः"** इत्यादि वचन प्रसिद्ध हैं। सर्प–देवता–पशु–पक्षि–मनुष्य–दैत्य आदि सब इसी कश्यप से उत्पन्न हुए हैं। रेतोधा कश्यप पिता एक है योनिरूप प्राण कद्रू-विनता-दिति-अदिति-दनु-काला-संज्ञा आदि भेद से भिन्न-भिन्न हैं। अस्तु इस व्याख्यान को विस्तृत करना अप्राकृत होगा। यहाँ केवल यही बतलाना है कि अग्नि की विरलावस्था ही आदित्य है। समष्ट्यात्मक एक आदित्य **क्षत्र** है। इसे इन्द्र नाम से व्यवहृत किया जाता है। इस क्षत्र आदित्य की अवान्तर अवस्थाएँ ही १२ आदित्य हैं। ये **विट् रूप** हैं। द्वादशधा विभक्त आङ्गिरस पार्थिव आदित्य–विभूति का यही संक्षिप्त निदर्शन है।

◁क्ष ❀ वि▷

विरलावस्थापन्नः—द्विधाग्निरादित्यः—एकविंशस्थानीयः			द्वादश-आदित्याः
	१	इन्द्रः	
	२	धाता	
	३	भगः	
	४	पूषा	
	५	मित्रः	
	६	वरुणः	
	७	अर्य्यमाः	
	८	अंशुः	
	९	विवस्वान्	
	१०	त्वष्टा	
	११	सविता	
	१२	विष्णुः	

→त्रम् ❀ शः←

इस प्रकार भू-गर्भ से निकल कर एकविंशस्तोम स्थानीय द्युपृष्ठपर्य्यन्त व्याप्त रहने वाला एक ही अग्निदेव प्रथम-प्रथम घन–तरल–विरल अवस्था-भेद से अग्नि–वायु–इन्द्र इन तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है, एवं आगे जा कर घन-तरलादि अवस्थाओं के अवान्तर तारतम्य से तीन के ३१ देवता (८ वसु–११–रुद्र–१२–आदित्य) हो जाते हैं। द्यावा-पृथिवी के सम्बन्ध से ३३ हो जाते हैं। यदि इनकी अवान्तर महिमाओं की गणना की जाती है तो देवता असंख्य हैं। वस्तुतः-"**अग्निः सर्वा देवताः**" यही फलितार्थ है—"**अग्नि पुरोगाः सर्वे देवाः प्रीयन्ताम् ।**" इन ३१ देवताओं के उपक्रम में भू है, उपसंहार में द्यौ है। मध्य के ३१ देवताओं में से अग्नि पहिला है। विष्णु सब के अन्त में है जो सबसे बड़ा होता है, विज्ञान-दृष्टि से वही सबसे छोटा है। "**जो सबसे छोटा होता है, वही सबसे बड़ा माना जाता है**" इस विज्ञान सिद्धान्त के अनुसार ३१ के आदि में रहने वाले अग्नि देव सबसे अवम होते हुए भी **अग्रगामी** (श्रेष्ठ-महान) कहलाते हैं, एवं सर्वान्त में रहने वाले सबसे परम (बड़े) होते हुए भी विष्णु-देव **वामन** (छोटे-बौने) कहलाते हैं। इस छोर में अग्नि है, उस छोर में विष्णु है। मध्य में सब देवता हैं। यही संवत्सर रूप ज्योतिष्टोम यज्ञ है। अतएव ज्योतिष्टोम की दीक्षा के लिए दीक्षणीएष्टि करता हुआ यजमान आग्नावैष्णवएकादशकपालपुरोडाश का निर्वाप करता है। इसी आधार पर श्रुति कहती है—

"अपः प्रणीय–आग्नावैष्णवमेकादशकपालं पुरोडाशं निर्वपति। अग्निर्वै सर्वा देवताः। अग्नौ ही सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुह्वति। अग्निर्वै यज्ञस्यावरार्ध्यो विष्णुः परार्ध्यः। तत् सर्वाश्चैवैतद्देवताः परिगृह्य, सर्वं च यज्ञं परिगृह्य दक्षा इति। तस्मादाग्नावैष्णवएकादशकपालः पुरोडाशो भवति"। (शत० ३।३।१)

"अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः❀ परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः"।
(ऐ०ब्रा० १।१)

प्रसङ्गागत पूर्वोक्त द्वादश प्राणों की विभिन्न शक्तियों का जान लेना भी आवश्यक होगा। उन १२ शक्तियों का स्वरूप ही पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जाता है।

❀एक बार किसी भारतीय विद्वान् ने पश्चिमी विद्वानों की पद्धति का अनुकरण करते हुए उक्त श्रुति का अर्थ करते हुए लिखा था कि "किसी समय भारतवर्ष में अग्निपूजा का महत्त्व कम हो गया था, एवं विष्णु ही सबसे प्रधान देवता माने जाने लगे थे। उस स्थिति को लक्ष्य में रख कर ऐतरेय ने अग्नि को अवम (छोटा) विष्णु को परम (बड़ा) देवता बतलाया है।" यह है आजकल के वेदज्ञों का अन्वेषण, पाठक विचार करें, क्या यह उच्छिष्टभोग कभी हमें वेदार्थ के 'वास्तविक दृष्टिकोण से परिचित करा सकेगा?

१—इन्द्रः

हमारे शरीर में जो एक प्रकार के सहोबल का सञ्चार हो रहा है, जिस बल के आधार पर हम कठिन से कठिन कार्य का भार उठाने का साहस कर बैठते हैं, जिस सहोबल के प्रभाव से हमारे शरीर में एक प्रकार की स्फूर्त्ति रहती है, जो सहोबल शरीर को तना हुआ रखता है, वही बल किंवा शक्ति 'इन्द्र-शचि' है। जिस शक्ति के आधार पर ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों का सञ्चार होता है, जिस शक्ति के आधार पर हम अन्य व्यक्तियों पर शासन करने में समर्थ होते हैं वही **'इन्द्र'** है। जिस शक्ति से शारीर रसासृक्-मांसादि धातुओं का सञ्चार होता है, दूसरे शब्दों में शरीर में जो गति-भाव रहता है वह इसी इन्द्र-प्राण की महिमा है। जिस शक्ति के आधार पर शरीराग्निः **उरः स्थान–कण्ठ स्थान–शीर्षस्थान** से टकरा कर क्रमशः **अनुदात्त–स्वरित–उदात्त** स्वरों से युक्त होता हुआ क–च–ट–त–प आदि रूपा वर्णवाक् में परिणत होता है, वह यही इन्द्र है। जिस शक्ति के प्रभाव से **प्रज्ञानमन** में एक प्रकार का चाञ्चल्य रहता है, वह विद्युन्मूर्त्ति यही इन्द्र है। जिस शक्ति से विज्ञानात्मा (बुद्धि) गुहानिहित सुसूक्ष्म विषयों में प्रविष्ट होता है, वह यही **मघवा** इन्द्र है। जिस शक्ति के प्रसार से चक्षुरिन्द्रिय रूप-दर्शन में समर्थ होता है, "रूपंरूपं-मघवा बोभवीति" "इन्द्रो रूपाणि करिक्रदचरत्" इत्यादि के अनुसार वह शक्ति यही मघवेन्द्र है। अधिदैवत मण्डल में हम जो विद्युत-प्रकाश देखते हैं एवं सूर्य्यचन्द्रमादि में जो प्रकाश देखते हैं वह सब इन्द्र का ही कर्म्म है। पर्जन्य की सहायता से वृष्ट्यवरोधक **नमुचि-प्राण** को श्लथ कर वृष्टि करना इसी इन्द्र-प्राण का काम है। भौतिक पदार्थों में रहने वाले वारुण दूषित भावों को नष्ट करना वायुगत, अतएव **मरुत्वान्** नाम में प्रसिद्ध इसी इन्द्र का काम है। तत्तत् कर्म्मभेद से ही इस इन्द्र* की चौदह अवस्थाएँ हो जाती हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व में **अधिदैवत–अध्यात्म–अधिदैवत** तीनों प्रपञ्चों में जो एक बलप्रद शक्ति उपलब्ध होती है, जिसकी सत्ता से तत्तत् पदार्थ स्वस्वरूप में सुरक्षित में समर्थ होते हैं, वह बलतत्त्व ही **इन्द्र** है। इसी विज्ञान के आधार पर इन्द्रतत्त्व का सामान्य लक्षण करते हुए यास्काचार्य कहते हैं—

"या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्म्मैवतत्" (निरुक्त ७।३)

इन्द्र के उपर्युक्त स्वरूप धर्म्मों का प्रतिपादन करते हुए ही निम्नलिखित श्रौतवचन सामने आते हैं—

१—**"इन्द्रो बलं बलपतिः"** (शत० ११।४।३।१२)।

२—**"इन्द्रो मे बले श्रितः"** (तै०ब्रा० ३।१०।८।८)।

३—**"वीर्य्यं वा इन्द्रः"** (तां०ब्रा० ६।७।५।८)।

४—**"इन्द्रो वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सहिष्ठः सत्तमः पारयिष्णुतमः"** (ऐ०ब्रा० ७।१६)।

---

*इन चौदह इन्द्रों का विशद वैज्ञानिक विवेचन **"ब्रह्मविज्ञान"** नाम के ग्रन्थ में द्रष्टव्य है।

५—**"इन्द्रौजसांपते"** (तै०ब्रा० ३।११।४।१)।

६—**"अथ य इन्द्रस्सा वाक्"** (जै०उ०ब्रा० १।३३।२)।

७—**"यन्मनः स इन्द्रः"** (गो०ब्रा०उ० ४।११)।

८—**"क्षत्रं वा इन्द्रः"** (कौ० १२।८)।

९—**"स्तनयित्नुरेवेन्द्रः"** (शत० ११।६।३।९)।

१०—**"मयीदमिन्द्र इन्द्रियं दधातु"** (शत० १।८।१।४२)।

—※—
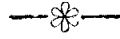
२—धाता

प्रत्येक पदार्थ में एक प्रकार की प्रतिष्ठा (स्थिति ठहराव) देखी जाती है। यदि पदार्थ में से यह प्रतिष्ठातत्त्व निकल जाता है तो वह कम्पित हो जाता है। इस प्रतिष्ठा-तत्त्व का **स्वरूप-निर्म्माण वषट्कार** से होता है। प्रत्येक पदार्थ पिण्ड के केन्द्र से निकल कर ४८ स्तोमपर्यन्त अपना महिमामण्डल बनाने वाला वाङ्मण्डल ही त्रिवृत्पञ्चदशादि ६ वाक्स्तोमों के कारण "वषट्कार" नाम से व्यवहृत हुआ है। **"देवपात्रं वा एष वषट्कारः"** के अनुसार यही वषट्कार उस वस्तु का पात्ररूप आलम्बन है। "तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्" इस शतपथवचन के अनुसार वषट्कार वाङ्मय बनता हुआ प्राणाग्निमय है। यही प्रतिष्ठा तत्त्व है, वस्तु को धारण करने वाला धाता है। **पञ्चप्रकृतिविज्ञान** के अनुसार सूर्य्यवाक् प्रकृति स्थानीय है। सूर्य्य का यह वाक् भाग किंवा प्राणाग्नि ही वषट्कार का स्वरूप सम्पादक बनता है। सूर्य्य का वह वाङ्मयप्राण जो कि वषट्कार का स्वरूपसम्पादक बनता हुआ पदार्थ को धारण करने वाली प्रतिष्ठा बनता है, वही **"धाता"** है। इसी धाता का स्वरूप-धर्म्म बतलाते हुए निम्नलिखित **निगम** श्रुतिएँ हमारे सामने आती हैं—

१—**"देवपात्रंवाऽएष यद्वषटकारः"** (शत० १।७।२।१३)।

२—**"एष वै वषट्कारो य एष तपति"** (शत० १।७।२।११)।

३—**"यः सूर्य्यः स धाता, स उ एव वषट्कारः"** (ऐत०ब्रा० ३।४८)।

४—**"प्राणो वै वषट्कारः"** (ऐ०ब्रा० ३।४७)।

५—**"यो धाता स वषट्कारः"** (ऐ०ब्रा० ३।४७)।

६—**"अग्निर्वै धाता"** (तै०ब्रा० ३।३।१०।२)।

७—"यत् (प्रजापतिर्दिक्षु पतिष्ठायेदं सर्वं)–दधत्–विदधत् अतिष्ठत् तस्माद्धाता" (शत० ६।५।१।३५)।

८—"स यः स धाता असौ स आदित्यः" (शत० ६।५।१।३७)।

९—"संवत्सरो वै धाता" (तै०ब्रा० १।७।२।१)।

१०—"वाक् संवत्सरः" (तां० १०।१२।७)।

३—भगः

प्रत्येक पदार्थ में एक प्रकार की श्री (शोभा-विकास) देखी जाती है। वृक्षों का सौंदर्य देखिए शाखा-प्रशाखा-पत्र आदि अवयवों का विन्यास देखिए, चतुर शिल्पी के हाथ चूमने की इच्छा होती है। उत्पन्न शिशु का मुग्ध भाव देखिए, चन्द्रमा की चन्द्रिका निहारिए, रत्नों में आभा देखिए, रसों में उद्गीथ देखिए, वेदों में साम देखिए, सर्वत्र अपेक्षया आप किसी न किसी प्रकार के सौंदर्य (श्री भाव) का अवलोकन करेंगे। तत्तत् पदार्थों में प्रातिस्विक रूप से रहने वाला यह श्री भाव ही तत्तत् वस्तु का ऐश्वर्य है। १२ आदित्य प्राणों में से जो प्राण ऐश्वर्य प्रदाता है वही विज्ञान भाषा में **"भग"** नाम से प्रसिद्ध है। **"श्री"** इस भाग का स्वरूप धर्म्म है। यदि श्रीप्रवर्त्तक भग की अवान्तर अवस्थाओं का विचार किया जाता है तो इसके ऐश्वर्य(१)–धर्म्म(२)–यश(३)–श्री(४)–ज्ञान(५)–वैराग्य(६) ये ६ विवर्त्त हो जाते हैं। पत्नी–सन्तान–भोग्य अन्न–वस्त्र–अनुचर–पशु–क्षेत्र–प्रासादादि द्रव्य **बहिर्वित्त ऐश्वर्य** है। नित्यसिद्ध प्राकृतिक नियम-संघ धर्म्मी को स्वस्वरूप में धारण करने के कारण **धर्म्म** है। सर्वत्र गुणख्याति **यश** है। शरीर शोभा **श्री** है। सदसद्विवेक **ज्ञान** है। विषयों का अनासक्तिपूर्वक भोग **वैराग्य** है। भग की इन्हीं छओं अवस्थाओं का दिग्दर्शन कराते हुए अभियुक्त कहते हैं—

ऐश्वर्यस्य च समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणः॥

जिस व्यक्ति में उक्त छओं भगों का पूर्ण विकास रहता है, नर-देहधारी वह पुरुष श्रेष्ठ ही **"भगवान्"** कहलाता है। इसी अभिप्राय से आप्तपुरुष कहते हैं कि **"वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति"**।

इस भग-प्राण को कोश (खजाना) उत्तरफल्गुनी नक्षत्र माना गया है। इस नक्षत्र पर दृष्टि-निक्षेप करने से **भगप्राण** आत्मसात् हो जाता है। ऐश्वर्य की वृद्धि होती है (द्रष्टव्य तै. ब्रा. १।१।२।४)।

निष्कर्ष यही हुआ कि सांसारिक वैभव, किंवा ऐश्वर्य जिस सौर प्राण से सम्पन्न होता है वही भग है। अनासक्तिभाव में जो भग (सांसारिक वैभव) भगवत् सम्पत्ति का कारण बनता है आसक्तिभाव में वही भग आत्मज्योति को तिरोहित कर देता है। भग की छओं कलाओं में से आत्मा को आवृत करनेवाली प्रधान कला ऐश्वर्य ही है। इसी आवरण सम्बन्ध से भग देवता को **अन्ध** कहा जाता है। भग के इन्हीं स्वरूप धर्मों को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

१—**"तस्य चक्षुः परापतत्–तस्मादाहुरन्धो वै भग इति"** (कौ. ब्रा. ६।१३)।
२—**"भगस्य वा एतन्नक्षत्रं यदुत्तरे फल्गुनी"** (तै. ब्रा. १।१।२।४)।

—**—

४—पूषा

ज्ञान-क्रिया-अर्थ–शक्तिधनसूर्य्य अपने प्रवर्ग्य भाग से रोदसी त्रिलोकी में रहने वाली प्रजा के ज्ञान-क्रिया-अर्थ भावों का उत्पत्ति-स्थिति-लयस्थान है। सौरमण्डल से उक्त तीनों शक्तिएँ पार्थिव-प्रजा में समष्टि रूप से आती हैं। समष्टिरूप में आने वाले इस सौर-प्रवर्ग्यन्ति को (ज्ञान–क्रिया–अर्थों को) सत्तत् पदार्थों में वैयक्तिक रूप से विभाजित करने वाला सौर-प्राणविशेष ही **"पूषा"** है। इसी आधार पर पूषा को **"भाग धुक्"** कहा जाता है। वह सौर आदित्य (सौरप्राण) जो पार्थिव भूतों का क्रिया का, ज्ञान का अनुग्राहक बनता हुआ पदार्थों के **भूत–क्रिया–ज्ञान भावों** को (सौरभूत–क्रिया–ज्ञान भावों के प्रदान से) पुष्ट करता है, "पुष्णाति सर्वं" इस निर्वचन के अनुसार **"पूषा"** नाम से व्यवहृत हुआ है। ज्ञान–क्रिया–अर्थ तीनों में पुष्टि का विशेष सम्बन्ध अर्थ (भूत) के साथ ही माना गया है। भूत-भाग को अनात्म्य होने से एवं दृष्टिपथ में आने से **"पशु"** कहा जाता है 'यदपश्यत् तस्मात् पशुः' (शत० ६)।

"इसी आधार पर पूषा-प्राण को पशुओं का भी अधिष्ठाता बतलाया जाता है। पशु-भाव के प्रवर्त्तक इस पूषा-प्राण के सौर–नाक्षत्रिक–पार्थिव भेद से तीन विवर्त्त हैं। सौर पूषा **"भाग धुक्"** बनता हुआ भूतभाग का मूल जनक है, नाक्षत्रिक पूषा तत्त्व रेवती नक्षत्र नाम से प्रसिद्ध है। "पूष्णे हस्ताभ्याम्" (तै०सं० ४।४।१०।३) से रेवती ही अभिप्रेत है। पार्थिव पूषाभाग शूद्र वर्ण का अधिष्ठाता है **शौद्रं वर्णमसृजत पूषणम्"** (शत० १४।४।२।२५)। पूषा देवता घनभावशून्य है, तरल है, अतएव इसे **अदन्तक** कहा जाता है। भगप्राण **श्री** का अधिष्ठाता है, परन्तु बिना पुष्टिप्रवर्त्तक भूतप्रधान पूषा को **भगपति** माना जाता है (शत० ११।४।३।१५)। पोषक प्राण ही पूषा है। पूषा प्राण का यही संक्षिप्त निदर्शन है। निम्नलिखित श्रौतवचन उक्त अर्थ का सही स्पष्टीकरण करते हैं—

१—**"पुष्टिर्वैपूषा"** (तै० ब्रा० २।७।२।१) ।
२—**"पशवो हि पूषा"** (शत० ५।२।५।८) ।
३—**"पूषा रेवत्यन्वेति पन्थाम्"** (तै० सं० ३।१।२।६) ।
४—**"पूषा भागदुघोऽशनं पाणिभ्यामुपनिधाता"** (शत० १।१।२।१७) ।
५—**"तस्मादाहुरदन्तकः पूषा करम्भ भाग इति"** कौ० ६।१३) ।

—**—

५-६—मित्रावरुणौ

सौरद्वादश-आदित्यप्राण लोकालोकपर्य्यन्त व्याप्त है । खगोल में व्याप्त इस आदित्यप्राण की पूर्व-पश्चिम कपालभेद से **मित्र-वरुण** दो अवस्थाएँ हो जाती हैं । यह याम्योत्तर रेखा (दक्षिणोत्तर वृत्त) जो रात्रि के १२ बजे, मध्याह्न के १२ बजे को काटती हुई जाती है, वह **उर्वशी** नाम की **अप्सरा** है । विशाल अन्तरिक्ष आपोमय **अर्णव समुद्र** है । सभी (३६०) याम्योत्तर रेखाएं इस अर्णव समुद्र के **अप्** में सरण के कारण **अप्सराएं** हैं, परन्तु उपर्युक्त मध्यवृत्त सबकी अपेक्षा उरु (विशाल) है अतएव यह मध्यवृत्त उर्वशी नाम से प्रसिद्ध है । इस मध्य-वृत्त से पूर्व की ओर का सम्पूर्ण सौरभाग-पूर्वकपाल है, पश्चिम की ओर का सारा विभाग पश्चिमकपाल है । इस कपालद्वयी में "त्वमातथन्तोर्वान्तरिक्षम्" इस इस ऋग्वैदिक सिद्धान्त के अनुसार सौरयज्ञसमर्पक दिक्सोम भरा हुआ है, अतएव उभय कपालावच्छिन्न सोमरस से परिपूर्ण इस खगोल को याज्ञिक परिभाषा में **द्रोणकलश** (सोमघट) कहा जाता है । पूर्वोक्त उर्वशी रेखा (मध्याह्नवृत्त) पर पूर्व एवं पश्चिम दोनों कपालों का संयोग है । पूर्वकपाल मित्र है, पश्चिम कपाल वरुण है । दोनों कपालों का संयोग क्या है, मित्रावरुण का उर्वशी अप्सरा के साथ मिथुनभाव मध्याह्नवृत्तरूप उर्वशी में मित्र-वरुण दोनों प्राणों की अंशात्मना आहुति होती है । यह मैत्रावरुणप्राण स्खलित हो कर कुछ तो घटरूप खगोल में (क्रान्तिवृत्तावच्छिन्ननाक्षत्रिक एवं ग्रह खगोल में) प्रविष्ट हो जाता है, इससे मध्याकाशस्थ **मत्स्य** नाम का अपूर्व तत्त्व उत्पन्न होता है । दक्षिण भाग में गिरते हुए मैत्रावरुण प्राण से **अगस्त्यप्राण** एवं उत्तर भाग में गिरे हुए मैत्रावरुण प्राण से **वसिष्ठ प्राण** का उदय होता है । अस्तु इस कथा के विश्लेषण का प्रकृत में पर्य्याप्त अवर नहीं है । यहाँ हमें केवल यही बतलाना है कि रात्रि के १२ बजे से दिन के १२ बजे तक सौर प्राण पार्थिव प्रजा की ओर अनुगत रहता है, इतने काल में सौरप्राण हमारे से (पार्थिवप्रजा से) स्नेह करता है, अतएव एतत्कालावच्छिन्न पूर्वकपालस्थ आदित्यप्राण **"मित्र"** कहलाता है । ठीक इसके विरुद्ध दिन के १२ बजे से रात्रि के १२ बजे तक सौरप्राण पार्थिवप्रजा से वियुक्त होता रहता है, संवृत होता रहता है, अतः एतत् कालावच्छिन्न पश्चिम कपालस्थ आदित्यप्राण को **"वरुण"** नाम से व्यवहृत किया जाता है । अनुकूल भावप्रदाता इन्द्रज्योति सौरप्राण **मित्र** है, प्रतिकूल भाव का अधिष्ठाता आपोमय ही सौरप्राण **वरुण** है । अध्यात्म

संस्था में ये दोनों प्राण **क्रतु** एवं **दक्ष** नाम से प्रसिद्ध हैं। क्रतु (संकल्प) पर आरूढ होना दक्षभाव है अतः काल का अधिष्ठाता मित्र है, रात्रि की प्रतिष्ठा वरुण है। कुल्हाड़े से काटी हुई वृक्षशाखा वारुणी है, स्वयं गिरी हुई शाखा मैत्री है । यदि आप चावल को विशुद्ध अग्नि से ही परिपक्व करते हैं तो वह वारुण बनता हुआ आसुर हो जाता है, मधुरता नष्ट हो जाती है यदि कुछ काल तक अग्नि से सम्बन्ध करके नीचे उतार कर वाष्प से ही उसका परिपाक करते हैं तो इस अवस्था में वह ओदन मैत्र बनता हुआ दिव्यान्न बन जाता है, इसमें मधुरता अक्षुण्ण रहती है। दुग्ध में मित्र का भाग अधिक है, सोम में वरुण की प्रधानता है । प्राण मित्र है, अपान वरुण है । आपूर्यमाण (शुक्लपक्ष) मित्र है, अपक्षीयमाण पक्ष (कृष्णपक्ष) वरुण है। प्रेमाश्रु का मित्र प्राण से सम्बन्ध है, शोकाश्रु का वरुणप्राण से सम्बन्ध है। आगमन मित्र से संबंध रखता है, गमन वरुण से सम्बन्ध रखता है। मित्रावरुण के इन्हीं स्वरूप धर्म्मों को लक्ष्य में रख कर निम्नलिखित श्रौतवचन हमारे सामने आते हैं—

१—**"सर्वस्यह्येव मित्रो मित्रम्" (आनुकूल्यात्)** (शत० ५।३।२।७)।

२—**"अहर्वै मित्रो, रात्रिर्वरुणः"** (ऐत०ब्रा० ४।१०)।

३—**"वरुण्यं वा एतद्यन् मथितं (आज्यम्) अथैतन्मैत्रं यत् स्वयमुदितम्"** (शत० ५।३।२।६)।

४—**"वरुण्योवाऽएष योऽग्निनाश्रितः अथैष मित्रो य ऊष्माणश्रितः"** (शत० ५।३।२।८)।

५—**"अर्द्धमासौ (शुक्लकृष्णपक्षौ) मित्रावरुणौ"** (तां० २५।१०।१०)।

६—**"वरुण्या वा एषा (शाखा) या परशुवृक्णा, अथैषा मैत्री (शाखा) या स्वयंप्रशीर्णा"** (शत० ५।३।२।५)।

७—**"द्यावापृथिवी वै मित्रावरुणयोः प्रियं धाम"** (तां० १४।२ ४)।
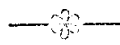
७—अर्य्यमा

सौर संस्था में रहने वाला यह प्राण जो **सौरज्योति-गौ-आयु** तत्त्वों को प्रजोत्पत्ति के लिए देने के लिए बाध्य करता है, दूसरे शब्दों में सौर भाग का जो प्राण पार्थिव प्रजा को प्रदान करता है, दातृत्व का अधिष्ठाता वही सौरप्राण **"अर्य्यमा"** नाम से प्रसिद्ध है। दान की ओर जो हमारी स्वाभाविक प्रवृत्ति*

*एक दूसरे पदार्थों में अपने-अपने द्रव्यों का विसर्ग एवं परद्रव्यों का आदान कैसे होता है ? आदान-विसर्ग में भैषज्य लक्षण जीवन-यज्ञ का स्वरूप कैसे सम्पन्न होता है ? इत्यादि विषयों का विशद विवेचन **ईशोपनिषत् हिन्दी विज्ञानभाष्य** प्रथम खण्ड में देखना चाहिए।

होती है, वह प्रवृत्ति हमारी नहीं, अपितु अध्यात्म में प्रविष्ट अर्य्यमा नाम का आदित्यप्राण ही इस दानेच्छा का अधिष्ठाता है। यदि प्राणियों में (आदानविसर्गस्वरूपसम्पादक) यह दान न हो तो जीवन साधक यज्ञ सम्बन्ध ही उच्छिन्न हो जाए। अन्य पदार्थ से प्रवर्ग्यरूप में परिणत हो कर आने वाली वस्तु ही अन्य पदार्थ में आहुत हो कर अन्नादान रूप यज्ञ का स्वरूप समर्पक बनती हुई उस पदार्थ की प्रतिष्ठा का कारण बनती है। इसी आधार पर इस अर्य्यमा के लिए **"यज्ञो वा अर्य्यमा"** (तै० ब्रा० ३।८।१६।३) यह कहा जाता है। दानशील मनुष्य यज्ञ का प्रेरक बनता हुआ साक्षात् अर्य्यमा है। इसी अभिप्राय से "अर्य्यमेति तमाहुर्यो ददाति" (तै०ब्रा० १।१।२।४) यह कहा गया है।

"बृहस्पतिः पूर्वेषामुत्तमो भवति इन्द्र उत्तरेषां प्रथमः"

इस निगम के अनुसार **पृथिवी–अन्तरिक्ष** द्यौ (सूर्य्य) रूप विश्व के उत्तर भाग में इन्द्र (सूर्य्य) प्रथम स्थान रखता है। इसी अभिप्राय से इसके लिए "विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः" यह कहा जाता है। वाजपेययज्ञ प्रवर्त्तक **बृहस्पति-ग्रह** परमेष्ठी एवं स्वयंभू रूप उत्तर-विश्व के अन्त में प्रतिष्ठित है। इस बृहस्पति के सम्बन्ध से ही सौरसाम (महिमामण्डल किंवा विभूतिमण्डल) **बृहत्साम** नाम से प्रसिद्ध है। यही "बृहतांपतिः" है। ऊर्ध्व भाग स्थित बृहस्पति के ऊपर दक्षिणोत्तर ध्रुव को काटता हुआ खगोल में जो एक प्रकाशित तारापुञ्जमार्ग दिखलाई पड़ता है, वह पुराण भाषा के अनुसार **"वियद्गङ्गा"**–आकाश-गङ्गा"–**"सुरदीर्घिका"** आदि नामों से प्रसिद्ध है। इस तारापुञ्ज में रहने वाला समष्ट्यात्मक प्राण भी **"अर्य्यमा"** नाम से प्रसिद्ध है। इसी आधार पर इस आकाशगङ्गा को वैदिक साहित्य में "अर्य्यमणः पन्थाः" (अर्य्यमा का मार्ग) नाम से व्यवहृत किया गया है* जैसा कि वाजिश्रुति कहती है—

"एषा वा ऊर्ध्वा बृहस्पतेर्दिक्, तदेष उपरिष्टादर्यम्णः पन्थाः"

(शत० ५।५।१।१२)

---

*खगोलीय संस्था में तीन प्रकार के बृहस्पति हैं। **लुब्धक बन्धु** नाम के नक्षत्र को (जो कि रोहिणी नक्षत्र के कुछ पूर्व एवं लुब्धक नक्षत्र से कुछ उत्तर भाग में प्रतिष्ठित है एवं जिसके साथ तारा-हरण उपाख्यान का सम्बन्ध है) भी बृहस्पति कहा जाता है। "स्वस्तिनो बृहस्पतिर्दधातु" में बृहस्पति शब्द से लुब्धक-बन्धु नामक नाक्षत्रिक बृहस्पति का ही ग्रहण है। दूसरा बृहस्पति ग्रह है जो कि शनि-मंगल आदि ग्रहविज्ञान से सम्बन्ध रखता है। इसी ग्रह बृहस्पति को मंगल एवं बृहस्पति के मध्य में रहने वाले **देवसेना** नाम के १०८ ग्रहों का संचालक माना गया है। "बृहस्पतिर्दक्षिणा" यजुर्वेदोक्त यही सुप्रसिद्ध बृहस्पतिग्रह है। सूर्य्य से ऊपर रहने वाला बृहस्पति उक्त दोनों से पृथक् है। यह पारमेष्ठ्य ग्रह है। यही **वाज-सोम** का प्रवर्त्तक बनता हुआ वाजपेय यज्ञ का अधिष्ठाता है। इसी आधार पर वाजपेय यज्ञ को "**बृहस्पति-सव** कहा जाता है।

दानपूर्वक यज्ञ का स्वरूप सम्पादन करने वाला प्रदाताप्राण ही "**अर्य्यमा**" है। जिस व्यक्ति के अन्तरात्मा में इस प्रदाताप्राण की शक्ति रहती है वही स्वभावतः दाता होता है। अर्य्यमा की कमी से ही स्वाभाविक कृपणता का उदय होता है। भारत वर्ष पर इस अर्य्यमाप्राण की विशेष कृपा है। अर्य्यमाप्राण की स्वाभाविक अनुकम्पा से ही यह देश आर्य्यावर्त्त एवं देश के निवासी आर्य्य कहलाते हैं। आर्य्यों की दानशक्ति प्रसिद्ध है। "दातारो नोऽभिवर्त्तन्ताम्" (हमारे कुल में दाता बढ़ें) यह इस देश का उच्च आदर्श है। अर्य्यमाप्राण की कृपा से ही इस देश में सर्वप्रथम यज्ञविद्या का आविष्कार हुआ है। अर्य्यमाप्राण के इसी स्वरूप धर्म्म को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

१—"यज्ञो वा अर्य्यमा" (तै०ब्रा० २।३।५।४)
२—"अर्य्यमेति तमाहुर्यो ददाति" (तै०ब्रा० १।१।२।४)
३—"ततो वै स (अर्य्यमा) पशुमानभवत्" (तै०ब्रा० ३।१।४।६)

—❀—
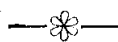
८—अंशुः ❀

१—"प्राण एवांशुः चक्षुरेवांशुः" (शत० ११।५।६।२)।
२—"मनो ह वांशुः" (शत० ११।५।६।२)।
३—"प्रजापतिर्वा एष यदंशुः" (शत० ४।६।१।१)।
४—"प्रजापतिर्वा एष यदंशुः सोऽस्य (यजमानस्य) एष आत्मैव" (शत० ४।६।१।१, ११।५।६।१)।

—❀—
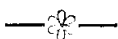
९—विवस्वान्

कल्पदृष्टि से **विवस्वान** नाम के आदित्य का बड़ा महत्त्व है। यही कारण है कि जहाँ और-और आदित्यप्राण केवल **आदित्य** नाम से प्रसिद्ध हैं वहाँ यह विवस्वान नाम का आदित्य **"मार्त्तण्ड"** किंवा

❀'अंशु' पर लिखते समय स्वर्गीय पण्डित श्री मोतीलालजी शास्त्री स्थान खाली छोड़ गये हैं। लगता है, अवकाश में फिर इस पर सप्रमाण लिखने का उनका विचार था जो पूरा नहीं हो पाया। अतः यहाँ ग्रन्थ की मौलिकता और प्रामाणिकता की रक्षा के लिए केवल अंशु विषयक श्रुति-वचनों के संदर्भ उद्धृत कर सन्तोष लाभ करना ही श्रेयस्कर समझा गया है—सम्पादक।

"मार्त्तण्ड" इस विशेष नाम से व्यवहृत हुआ है। सृष्टि-विज्ञानान्तर कालविज्ञान के अनुसार वर्त्तमान मन्वन्तर "वैवस्वत मन्वन्तर" नाम से प्रसिद्ध है जैसा कि पूर्व की **अमृतात्मविज्ञानोपनिषत्** में विस्तार से बतलाया जा चुका है। इसी विवस्वान आदित्य का स्वरूप निरूपण करती हुई मन्त्र श्रुति कहती है—

अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्वस्परि ।
देवाँऽउपप्रैत् सप्तभिर्परामार्त्तण्डमास्यत् ॥
सप्तभिः पुत्रैरदितिरुपप्रैत् पूर्व्यं युग्मम् ।
प्रजायै मृत्यवेतत् पुनर्मार्त्तण्डमाभरत् ॥ (ऋक्० १०।७२।८।९)।

उक्त आदित्यों को अदितिपुत्र बतलाया गया है। यह अदितितत्त्व १—**पृथिवीमण्डलोपलक्षिता अदिति** २—**सूर्य्यमण्डलोपलक्षिता अदिति** ३—**नक्षत्रमण्डलोपलक्षिता अदिति** भेद से प्रधानरूप से तीन भागों में विभक्त माना गया है। इन तीनों अदितियों में प्रकृत मन्त्रों में स्तौम्यत्रिलोकी से सम्बन्ध रखने वाली पृथिवीमण्डलोपलक्षिता अदिति का ही निरूपण हुआ है। भू-पिण्ड का आधा अण्डकपाल सदा दृश्य रहता है। आधा अण्डकपाल सदा अदृश्य रहता है। दृश्यकपाल के साथ सौरज्योतिर्मय प्राण का अविच्छिन्न रूप से सम्बन्ध रहता है, अतएव भू-पिण्ड का सौरतेजोऽवच्छिन्न यह पार्थिव दृश्य भाग **अदिति** कहलाता है। अदृश्य भाग में सौरप्राण कट जाता है, दूसरे शब्दों में उस भाग में सौर तेज का अभाव है, अतएव भूपिण्ड का यह तपोमय पार्थिव भाग **'दिति'** नाम से व्यवहृत होता है। खण्डनार्थक दो-दो धातु से ही दिति शब्द निष्पन्न हुआ है (दो अवखण्डने)। इस व्यवस्था के अनुसार रात्रि में भी अदिति सत्ता सिद्ध हो जाती है। पृथिवी अपने अक्ष पर घूम रही है। भूपिण्ड के इस स्वाक्षपरिभ्रमण से ही पृथिवी की दैनंदिन गति होती है। इस दैनंदिनगति से ही अहोरात्र (दिन-रात) का स्वरूप निष्पन्न होता है। अहोरात्र स्वरूप समर्पिका इस दैनंदिन गति के आधार पर यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं रह जाती है कि उक्त अदिति की सत्ता रात्रि में भी प्रतिष्ठित है। कारण स्पष्ट है। अहः कालवत् रात्रि में भी दृश्य भाग अक्षुण्ण रहता है। सर्वतः परिभ्रमण के कारण ही भूमण्डलोपलक्षिता अदिति सम्पूर्ण पृथिवी, सब दिशाएँ, अन्तरिक्ष, द्यौ आदि सबके साथ युक्त हो जाती है। सर्वात्मभूता भूमण्डलोपलक्षिता इसी अदिति का स्वरूप बताते हुए वेदमहर्षि कहते हैं—

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्म्माता स पिता स पुत्रः ।
विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥
(ऋग्० १।८९।१०)।

इसी अदिति को लक्ष्य में रख कर "इयं वै पृथिव्यदितिः" (शत० १।१।४।५) यह कहा गया है। परिभ्रमणमूला उक्त अदितिस्वरूप परिचय से विज्ञ पाठकों को यह भी समझ लेना चाहिए कि यह अदिति वस्तुतः गतिशीला बनती हुई परिवर्त्तनशीला है, अस्थिरा है। उधर सूर्य्यमूला अदिति सर्वथा

स्थिर है, इसी प्रकार नक्षत्रमूला अदिति जिसका कि सम्बन्ध "देवस्य त्वा अश्विनोर्बाहुभ्यांपूष्णो हस्ताभ्यामाददे नार्यसि" (यजु० २।६।५।२) इत्यादि मन्त्रवर्णन के अनुसार **पुनर्वसु** नक्षत्र के तृतीय चरण के बाद माना गया है, सर्वथा स्थिर है। यज्ञकाल निर्णय में इस नक्षत्रमूलास्थिर* अदिति को ही महत्त्व दिया गया है। उक्त दोनों मन्त्रों का इन स्थिर दोनों अदितियों से कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि अहः काल में ही अपनी सत्ता रखने वाली स्थिर अदिति के साथ उक्त मंत्रों का सम्बन्ध माना जायेगा तो "देवाँ उपप्रैत् सप्तभिः" यह कथन सर्वथा असंगत हो जायगा। कारण स्पष्ट है। अहःकाल में अदिति के साथ ६ आदित्यों का सम्बन्ध होता है, आठवाँ आदित्य स्वयं मार्त्तण्ड (सूर्य्यपिण्ड) है। रात्रि में मार्त्तण्ड का सम्बन्ध न रह कर केवल सात आदित्यों का ही अदिति से सम्बन्ध रहता है। रात्रि में सूर्य्यपिण्ड के अस्ताचलानुगामी बनने पर भी आदित्यप्राण अवश्य रहते हैं। इनका अदिति के साथ सम्बन्ध बतलाना तभी घटित हो सकता है जब कि रात्रि में भी अदिति-सत्ता मान ली जाय। सूर्यमूला एवं नक्षत्रमूला अदिति स्थिरभाव के कारण ऐसी नहीं हो सकती क्यों कि इसकी सत्ता पूर्वकथानुसार रात्रि में भी है।

"अष्टौ ह पुत्रा अदितेः यांस्त्वेद्देवा आदित्या इत्याचक्षते। सप्त हैव ते अविकृतं हाष्टमं जनयाञ्चकार मार्त्ताण्डम्। सन्देघो हैवास। यावानेवोर्ध्वस्तावांस्तिर्यक्। पुरुषसम्मित इत्यु हैक आहुः। तऽउ हैतऽऊचुः 'देवा आदित्या यदस्मानन्वजनि मा तदमुयेव भूत्ऽहन्तेमं विकराम इति। तं विचक्रुः यथायं पुरुषो विकृतः। यमु ह तद्विचक्रुःस "विवस्वान्" आदित्यः तस्येमाः प्रजाः" इति (शत० ३।१।३।३)।

---

*खगोल संस्था में पृथिवी के परिभ्रमण से स्व-स्थान में सर्वथा स्थिर रहते हुए भी नक्षत्र पूर्व से पश्चिम की ओर उसी प्रकार जाते हुए दिखलाई देते हैं जैसे कि रेलवे ट्रेन में जाने वाले यात्री को मार्ग में आने वाले स्व-स्थान में स्थिर वृक्ष अपने गतिमार्ग से विरुद्ध दिक् में जाते हुए दिखलाई पड़ते हैं। इस दृश्य परिस्थिति को लक्ष्य में रख कर ही नक्षत्रों का उदयास्त माना गया है। वस्तुतः सब नक्षत्र सदा समान रूप से अपने-अपने नियत स्थानों पर ही प्रतिष्ठित रहते हुए अपने **नक्षत्र** (न क्षरतीति क्षत्रम्) नाम को चरितार्थ कर रहे हैं। **"देवस्य त्वा सवितुः"** इत्यादि मन्त्रों का यही तात्पर्य है कि जिस समय पूषा नाम से प्रसिद्ध **रेवती** नक्षत्र पश्चिम क्षितिज में अस्त हो जाता है, डूब जाता है, अदृश्य बन जाता है, उस समय **नासत्य** एवं **दस्र** नाम से प्रसिद्ध अश्विनी के दोनों तारे **रैवन्त** नक्षत्र को साथ लिए डूबने वाले होते हैं। इस दशा में स्वज्योतिर्म्मय होने से **सविता** नाम से प्रसिद्ध **स्वाती** नक्षत्र पूर्व क्षितिज पर रहता है। डूबे हुए सर्वथा अदृश्य रेवती, डूबने वाले किन्तु दृश्य अश्विनी दोनों की मध्य बिन्दु से आरम्भ कर पूर्व क्षितिज में प्रतिष्ठित स्वाती नक्षत्रपर्य्यन्त आकाश दिव्याकाश कहलाता है। इस दिव्याकाश का केन्द्रबिन्दु मध्यस्थ पुनर्वसु नक्षत्र का तृतीय चरण होता है। इस प्रकार स्वाती (सविता) के प्रसव उदय काल एवं अश्विनी के बाद, पूषा के हाथों से मध्यस्थ स्थिर बिन्दुरूप अदिति का ग्रहण होता है। नक्षत्रमूला स्थिर अदिति का यही संक्षिप्त निदर्शन है।

उक्त ब्राह्मण श्रुति का तात्पर्य यही है कि इतर आदित्य प्राण विकृत हैं, भिन्न-भिन्न रूप से अपनी-अपनी स्वतंत्र संस्थाओं में व्याप्त हैं परन्तु सूर्य्यपिण्ड रूप विवस्वान् नाम का आदित्य अविकृत है, पिण्डरूप है, पुरुषवत् प्रत्यक्ष दृष्ट है । यह अविकृत मार्त्तण्ड प्रजाकामुक बनता हुआ आगे जा कर कूर्म्म रूप से परिणत होता हुआ **दधि-घृत-मधु** इन तीन विकृत भागों में उसी प्रकार परिणत हो जाता है जैसे कि पुरुष-संस्था अस्थिमांसादि घनभाव, रसशोणितादि तरलभाव, शुक्रओजादि विरलभाव भेद से तीन विकृत भावों से युक्त रहती है । यही विवस्वान् आदित्य की विकृतावस्था है, इसी को चितिविज्ञान के अनुसार **कूर्म्म-कश्यप-पश्यक** आदि विविध नामों से व्यवहृत किया जाता है । जो तात्पर्य्य—

"एतद्वै❀ रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत । यदसृजत अकरोत्तत् । यदकरोत् तस्मात् कूर्म्मः । कश्यपो वै कूर्म्मः । तस्मादाहुः सर्वा प्रजा काश्यपः" । इति । (शत० ७।४।१।५) ।

इस वचन का है, उसी अभिप्राय से, उसी अर्थ में **"यमु ह तद्विचक्रुः स विवस्वानादित्यः, तस्येमाः प्रजाः"** यह कहा गया है । निष्कर्ष यही हुआ कि सूर्य्यकेन्द्र में उक्थ रूप से (मूल प्रभव रूप से) प्रतिष्ठित (अतएव मनु नाम से प्रसिद्ध) कूर्म्म रूप से परिणत हो कर त्रैलोक्य को अपनी रश्मियों से आच्छादित करने वाला आदित्यप्राणविशेष ही **"विवस्वान्"** है । यही विवस्वान् आगे जा कर **मनु-यम-मृत्यु** इन तीन भावों का आरम्भक बनता है जैसा कि आगे बतलाया जाने वाला है । विवस्वान् की इसी वृत्ति को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

१—**"असौ वाऽआदित्यो विवस्वानेष ह्यहोरात्रे विवस्ते । तमेष विवस्ते, सर्वतो ह्य् नेन परिवृतः"** (शत० १०।५।२।४) ।

२—**"विवस्वन्नादित्येष ते सोमपीतः"** (शत० ४।३।५।१८) ।

—**—

१०-त्वष्टा

रूप ही वस्तु का स्वरूप सम्पादक है । इस के **आकार** एवं **वर्ण** भेद से दो भाग हैं । **कृष्णशुक्ल-हरित**-पीत-नील-हिरण्मय आदि रूप **वर्णरूप** हैं । इनका अधिष्ठाता पूर्व-प्रतिपादित **मघवा** नामक **इन्द्र** नाम का आदित्य है । वस्तु का जो **वर्त्तुल** (गोल)-**चतुष्कोण-षट्कोण-त्रिकोण-अष्टकोण**-

---

❀इस विषय का विशद विवेचन "शतपथ हिन्दी विज्ञान भाष्य" में देखना चाहिए ।

लम्बा–चौड़ा आदि आकार रूप जिस आदित्यप्राण से विकसित होते हैं, वही "**त्वष्टा**" नाम से प्रसिद्ध है। "**त्वष्टारूपाणि पिंशतु**" से आकार रूप ही अभिप्रेत है। प्रजानिर्म्माण प्रक्रिया में **त्वष्टा–नाभानेदिष्ट –बालखिल्या–एवयामरुत्** ये चार प्राण सहचारी माने गए हैं (द्रष्टव्य ऐ०ब्रा० ६।३०)। योषाग्नि (गर्भाशयगत शोणिताग्नि) में आहुत होने वाली शुक्रबिन्दु आगे जा कर **हाथ–पैर–आंख–नाक–कान मुख–ग्रीवा–जङ्घा–उदर–कण्ठ–ललाट–अंगुली–नख–कफोणी–जत्रु–मणिबन्ध** आदि विविध आकारों में परिणत क्यों हो जाती है ? इसका उत्तर यही त्वष्टाप्राण है।

वस्तुपिण्ड **वाङ्मय** है। वाक्तत्त्व पाँचों भूतों का मूल है। दूसरे शब्दों में वाक्तत्त्व ही पञ्च-महाभूत में रूप में परिणत होता है। "वाक् परिमाणं छन्दः" के अनुसार वाक् (भूत) का परिमाणविशेष (ढाँचा) ही छन्द है। बहिःसीमा (बाहर का दृश्य आकार) ही उस वस्तु का छन्द कहलाता है। तत्तच्छन्द ही तत्तद् वस्तु का आकार रूप है। इसका विधाता यही त्वष्टाप्राण है। इसीलिए **वाक्** को भी त्वष्टा कहा जाता है। पूषा नाम के आदित्य का निरूपण करते हुए हमने चर्म्मचक्षु से दिखलाई देने वाले तत्त्व को **पशु** कहा है। दीखता है आकार, आकार का अधिष्ठाता है त्वष्टा। इसीलिए पशु को भी त्वष्टा कहा जाता है। त्वष्टाप्राण के इन्हीं स्वरूपधर्म्मों का प्रतिपादन करते हुए निम्नलिखित श्रौत वचन हमारे सामने आते हैं—

१—"**वाग्वैत्वष्टा। वाग्घीदं सर्वं त्वाष्टीव**" (ऐ०ब्रा० ६।१०)।
२—"**त्वष्टा वै पशूनामीष्टे**" (शत० ३।७।३।११)।
३—"**त्वष्टुर्हि पशवः**" (शत० ३।८।३।११)।
४—"**त्वष्टा वै पशूनां रूपाणं विकर्त्ता**" (तां०ब्रा० ६।१०।३)।
५—"**त्वष्टा पशूनां मिथुनानां रूपकृद् रूपपतिः**" (तै०ब्रा० २।५।७।४)।
६—"**त्वष्टा हि रूपाणि विकिरोति**" (तै०ब्रा० २।७।२।१)।
७—"**त्वष्टा वै रेतः सिक्तं विकिरोति**" (कौ० ३।६)।

—**—

११–सविता

परमेष्ठि–सूर्य्य–चन्द्रमा–बृहस्पति आदि ग्रहों की तरह सविता भी एक ग्रह है। साथ ही में चन्द्रमा जिस प्रकार पृथिवी का उपग्रह है, पृथिवी–बुध–शुक्र–मंगल–शनि आदि सूर्य्य के उपग्रह हैं एवमेव ब्रह्मणस्पति–बृहस्पति–सविता–सूर्य्य आदि कई उपग्रह परमेष्ठी के माने गए हैं। ये उपग्रह परमेष्ठी के चारों ओर परिक्रमा लगाया करते हैं इनमें से प्रकृत में सविताग्रह ही अभिप्रेत है। वैदिक परिभाषाओं

के विलुप्तप्राय हो जाने से आज सविता सूर्य्य का परस्पर पर्य्याय सम्बन्ध माना जा रहा है। यद्यपि सूर्य्य को भी सविता कहा जा सकता है, परन्तु केवल सूर्य्य को ही सविता मानना सर्वथा भ्रान्ति है। सविता एक स्वतन्त्र ग्रह है, एवं इसकी सत्ता तीसरे द्युलोक में है। अन्तरिक्ष पहला द्युलोक है, सूर्य दूसरा द्युलोक है, परमेष्ठी तीसरा द्युलोक है। यहीं सविता प्रतिष्ठित है। इसका एकमात्र कार्य्य **प्रेरणा** (कार्यप्रवृत्ति के लिए उत्तेजना) है। प्राकृतिक प्राणदेवताओं से ही भौतिक पदार्थ उत्पन्न होते हैं, एवं प्राणों के आगमन से ही इनका जीवन रहता है। इन प्राण देवताओं को पदार्थोत्पत्ति के लिए एवं जीवन के लिए प्रेरित करने वाला देवता ही सविता है। बिना सविताप्राण की प्रेरणा के किसी भी तत्त्व किंवा वस्तु का अन्य वस्तु के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। सविता देवता देवताओं के **नाजिर** हैं। **इजरा** करना इनका मुख्य कर्म्म है। अतएव प्रत्येक यज्ञकर्म्म में तत्तद्यज्ञ विभूतियों को प्राप्त करने के लिए सविता से ही प्रार्थना करते देखा जाता है। इस पारमेष्ठ्य सविताप्राण का सर्वप्रथम सूर्य के साथ सम्बन्ध होता है। हमारे त्रैलोक्य में हमें सूर्य्य के द्वारा सविताप्राण मिलता है, अतः सूर्य्य को आगे जा कर सविता मान लिया गया है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, सूर्य्य ही सविता नहीं है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि सविता **"प्रातर्य्यावाणः"** देवता माना गया है। **पञ्च-पञ्च उषाकालोपलक्षित गायत्री वेला में** सविता की सत्ता मानी गई है। सविता के आगमन का प्रधान समय ब्राह्ममुहूर्त्त से आरम्भ कर सूर्य्योदय से एक घण्टे पीछे तक माना गया है। इतने काल में हमें सविताप्राण प्रभूत मात्रा में मिलता है। इस प्रेरणात्मक सविता-प्राण को आत्मसात् करने के लिए ही ब्राह्ममुहूर्त्त में उठ कर नित्यकर्म्मों से निवृत्त हो कर गायत्री जप करने का आदेश है। गायत्री द्वारा सविता का वरेण्य (संग्रहणीय) तेज ही संगृहीत किया जाता है। उधर सूर्य्य सम्पूर्ण अहःकाल का अधिष्ठाता बना हुआ है। इससे स्पष्ट है कि सूर्य्य का नाम सविता नहीं है अपितु सूर्य में प्रेरणा भाव का उदय करने वाला आगन्तुक प्राण ही सविता है। प्रत्येक पदार्थ में सविता प्राण का भोग होता है, अतएव ब्राह्मण ग्रन्थों में **अग्नि–चन्द्रमा–सूर्य्य–अभ्र–मन–प्राण–यज्ञ–पृथिवी–वायु–स्तनयित्नु–वेद–पुरुष–पशु–अहः** आदि सबको सविता शब्द से सम्बोधित किया है। इस सविताप्राण की प्रतिष्ठा-भूमि प्रत्येक पदार्थ की केन्द्रबिन्दु है। केन्द्र से सीधी आने वाली प्रेरणात्मिका रश्मिएँ **सावित्री** है। उदाहरण के लिए **दीपार्चि** (दीपशिखा) को सविता समझिए। इससे चारों ओर ऋजुमार्ग से निकलने वाली रश्मियों को सावित्री समझिए। ये ही रश्मिएँ किसी धामच्छद वस्तु से टकरा कर यदि प्रतिफलित हो जाती हैं तो इन्हें गायत्री शब्द से व्यवहृत किया जाता है। प्रत्येक सविता❀ के साथ सावित्री एवं गायत्री का सम्बन्ध रहता है।

सौर रश्मिएँ हिरण्यवर्णा हैं अतएव सविता को **हिरण्यपाणि** कहा जाता है। किसी भी कार्य के लिए हमारे अन्तःकरण में पहिले **"इदं कुरु"** (यह करो), **"इदं कर्त्तव्यम्"** (यह काम करना चाहिए)

❀इस विषय का विशद विवेचन सन्ध्याविज्ञान रहस्य में देखना चाहिए।

इत्यादि रूप से अन्तःप्रेरणा का उदय होता है। यह प्रेरणा उसी सविताप्राण की प्रेरणा है। सम्पूर्ण कर्म सवितृप्रसूत बन कर ही पूर्णरूप से निष्पन्न होते हैं। सविताप्राण के उपर्युक्त स्वरूप धर्म्मों को लक्ष्य में रख कर ही निम्नलिखित श्रौतवचन हमारे सामने आते हैं—

१–**"सविता वै देवानां प्रसविता"** (शत० १।१।२।१७)।

२–**"सविता वै प्रसवानामीशे"** (ए०ब्रा० १।३०)।

३–**"आदित्य एव सविता"** (गौ०ब्रा०पू० १।३३)।

४–**"एष वाव सावित्रः य एष तपति"** (शत० ३।२।३।१८)।

५–**"अग्निरेव सविता"** (जै०ब्रा०उ० ४।२७।१)।

६–**"वरुण एव सविता"** (जै०ब्रा०उ० ४।२७।३)।

७–**"विद्युदेव सविता"** (गो०ब्रा०पू० १।३३)

८–**"वायुरेव सविता"** (गो०ब्रा०पू० १।३३)

९–**"चन्द्रमा एव सविता"** (गो०ब्रा०पू० १।३३)।

१०–**"यज्ञ एव सविता"** (जै०उ० ४।२७।७)।

११–**"इयं (पृथिवी) वै सविता"** (शत० १३।१।४।२)।

१२–**"अभ्रमेव सविता"** (गो०ब्रा०पू० १।३३)।

१३–**"वेदा एव सविता"** (गो०ब्रा०पू० १।३३)।

१४–**"अहरेव सविता"** (गो०ब्रा०पू० १।३३)।

१५–**"पुरुष एव सविता"** (जै०उ० ४।२७।१७)।

१६–**"पशवो वै सविता"** (शत० ३।२।३।११)।

१७–**"प्राणो वै सविता"** (ऐ०ब्रा० १।१९)।

१८–**"मनो वै सविता"** (शत० ६।३।१।१३)।

१९–**"तस्मात् (सविता) हिरण्यपाणिरितिस्तुतः"** (कौ०ब्रा० ६।१३)।

२०"–**दातारमद्य सविता विदेय यो नो हस्ताय (नक्षत्राय) प्रसुवाति यज्ञम्"** (तै०ब्रा० ३।१।३।६)।

१२—विष्णुः

दो विजातीय पदार्थों का अथवा अनेक विजातीय पदार्थों का **अन्तर्य्याम** सम्बन्ध (रासायनिक मिश्रण) से अपूर्व भाव में परिणत हो जाना ही यज्ञ है । मिलने वाली इन दो वस्तुओं में एक अन्नाद बनती है, दूसरी अन्न बनती है । अन्नाद को अग्नि कहा जाता है, अन्न को सोम कहा जाता है । अन्नाद अग्नि में अन्न सोम का आहुत होना ही यज्ञ है । अन्नादाग्नि में अन्न की आहुति देने वाली सौर-आकर्षण शक्ति ही **विष्णु** के नाम से प्रसिद्ध है । पूर्व की **अमृतात्मविज्ञानोपनिषत्** में पञ्चाक्षर का निरूपण करते समय विष्णुतत्त्व का विस्तार से स्वरूप बतलाया जा चुका है । वहाँ **आगतितत्त्व** को ही विष्णु कहा गया है । अशनाया सूत्र से सोम को आकर्षित कर उसे अग्नि में आहुत करना आगति धर्म्मा विष्णु का ही कर्म है । ऐसी स्थिति में इस विष्णुतत्त्व को यज्ञस्वरूपसमर्पक होने से हम अवश्य ही **यज्ञ** नाम से व्यवहृत करने के लिए तय्यार हैं । प्रकृत **में** विष्णु के सम्बन्ध से केवल यही समझ लेना पर्य्याप्त होगा कि वह आदित्यप्राण जो हृद्याक्षर सम्बन्ध से प्रत्येक पदार्थ के केन्द्र में प्रतिष्ठित होकर अशनाया सूत्र द्वारा अन्नाहुति से जीवनसत्तैकमूल पदार्थों के यज्ञ को सुरक्षित रखता है, वही आदित्यविष्णु नाम से प्रसिद्ध है । जब तक यह वैष्णवी शक्ति काम करती रहती है, तब तक वस्तु की जीवन सत्ता रखने वाला अन्नादान रूप यज्ञ होता रहता है । वैष्णवी शक्ति के उत्क्रान्त होते ही यज्ञ बन्द हो जाता है, पदार्थ नष्ट हो जाता है । विष्णु ही विश्व के पालक हैं । तैंतीस यज्ञ देवताओं के अन्त में इसी विष्णु देवता का साम्राज्य है । द्वादश आदित्य विभूति का यही संक्षिप्त स्वरूप परिचय है ।

—❀—

मनु–यम–मृत्युविभूति–स्वरूप परिचय—
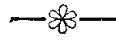
पूर्व प्रकरण में जिन १२ आदित्यप्राणों का दिग्दर्शन कराया गया है उनमें से **विवस्वान्** नाम के नवें आदित्यप्राण से **मनु–यम–मृत्यु** नाम के तीन तत्त्व उत्पन्न होते हैं । प्रसंगागत इन वैवस्वत तत्त्वों का स्वरूप जान लेना भी अनावश्यक न होगा । इन तीनों का स्वरूप वैवस्वत के आधार पर **इन्द्र–अग्नि–वरुण** के समन्वय से निष्पन्न होता है । ये तीनों देवता क्रमशः मनु, यम, मृत्यु के रेतः (उपादान द्रव्य) हैं एवं विवस्वान इन तीनों की योनि है । विवस्वान रूपा योनि में इन्द्र–रेतः की आहुति होने से मनुतत्त्व उत्पन्न होता है । अग्नि–रेतः की आहुति से यम तत्त्व का विकास होता है एवं मुच्यु नाम से प्रसिद्ध वरुणरेतः की आहुति मृत्यु–देवता की स्वरूप सम्पादिका है । इन्हीं का स्वरूप क्रमशः पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जाता है ।

१—मनुनिरुक्तिः

त्रिवृत्स्तोम (९) स्थानीय **"पृथिवीलोक"** पञ्चदशस्तोम (१५) स्थानीय **अन्तरिक्षलोक** एवं एकविंश (२१) सोमस्थानीय **द्युलोक** भेद से इन्द्र-तत्त्व तीन भागों में विभक्त है । इन तीनों लोकों के अतिष्ठावा देवता क्रमशः **अग्नि-वायु** आदित्य है । इनमें क्रमशः अग्निप्रधान पार्थिवेन्द्र **वासव** नाम से, वायुमय **आन्तरिक्ष्येन्द्र मरुत्वान्** नाम से, एवं आदित्यमय दिव्येन्द्र **मघवा** नाम से प्रसिद्ध है । **"सूर्य्यो-बृहती मध्यूढस्तपति"** **"बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः"** **"बिभ्राड्बृहत् पिबतु सौम्यम्"** इत्यादि श्रौत वचनों के अनुसार **बृहत्** नाम से प्रसिद्ध सूर्य को **बृहतीछन्द** पर प्रतिष्ठित माना गया है । **गायत्री–उष्णिक्–अनुष्टुप्**

आदि सातों छन्दों में (जो कि छन्दः ज्योतिशास्त्र परिभाषा के अनुसार अहोरात्रवृत्त पूर्वापरवृत्त इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है) मध्य का नवाक्षर छन्द ही बृहती नाम से व्यवहृत है। चक्षुःशास्त्र परिभाषा के अनुसार यही छन्द **विष्वद्वृत्त** नाम से व्यवहृत हुआ। इसका प्रत्येक चरण ९-९ अक्षर का है, संभूय बृहती छन्द के ३६ अक्षर हो जाते हैं। सौरी गौसाहस्री के सम्बन्ध से एक-एक बृहती प्राण सहस्र-सहस्र संख्या में परिणत हो जाता है। इस प्रकार बृहती के ३६ अक्षर प्राणों के ३६००० (छत्तीस हजार) प्राण हो जाते हैं। ये छत्तीस हजार बृहती प्राण वास्तव में सौर मघवेन्द्र प्राण ही है। इन्दु तत्त्व ही महिमा रूप से ३६ संख्या में परिणत हो कर शतायुपुरुष के आयुसूत्र का अधिष्ठाता बन रहा है।

उक्त आयुसूत्र से बढ़ कर पदार्थों का मित्र किंवा हितैषी और कौन हो सकता है अतएव इस आयु प्राण को विश्वामित्र$ (विश्व का मित्र) नाम से व्यवहृत किया जाता है। आयुप्रदाता इस बृहती सहस्र (३६००) ऐन्द्र प्राण के प्रथम द्रष्टा ऋषि भी विश्वामित्र नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। ऐन्द्र प्राण विश्वामित्र हैं, इसके प्रथम आविष्कारक मनुष्य ऋषि भी विश्वामित्र हैं। विश्वामित्र ऋषि उपासना के द्वारा इन्द्र को प्रसन्न करते हैं। आठ* प्रकार के देवताओं में से "अभिमानि व्यपदेशस्तुविशेषानुगतिभ्याम्" (ब्रह्म सू० २।१।५) के अनुसार अभिमानी कोटि के **इन्द्र** देवता मनुष्याकार में परिणत होकर इन्द्र के सामने उपस्थित होते हैं और कहते हैं—"ऋषे ! प्रियं धामोपागाः। वरं वृणीष्व ! (हे विश्वामित्र ! आप मेरे प्रिय स्थान पर पहुँच गए हैं, वर मांगिए)। ऋषि उत्तर देते हैं—"त्वामेवाहं वृणे" (मैं आपका—इन्द्र का ही स्वरूप जानना चाहता हूँ)। आगे जा कर बृहती सहस्र का स्वरूप बतलाते हुए इन्द्र कहते हैं—

"एतदेवाहं♁ मनुष्याय हिततमं मन्ये यन्मा विजानीयात्। प्राणे वा अहमस्मृषे ! प्राणस्त्वं, प्राणः सर्वाणि भूतानि, प्राणे ह्येष य एष तपति। स

$"मित्रे चर्षौ" पाणिनीय सूत्र के अनुसार ऋषिवाचक विश्वमित्र शब्द का दीर्घ हो जाने से विश्वामित्र बन जाता है। जो अर्थ लौकिक भाषा में विश्वामित्र का है, वही अर्थ ऋषिवाचक विश्वामित्र शब्द का समझना चाहिए।

*इन आठों देवताओं का विशद निरूपण **शतपथ हिन्दी विज्ञानभाष्य** (१ वर्ष) में देखना चाहिए।

♁(**"मैं आपका ही स्वरूप जानना चाहता हूं"**, विश्वामित्र के यह वह मांगने पर इन्द्र अपना स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं)—मैं मनुष्य के लिए यह सब से बड़ा हित समझता हूँ कि वह मुझे (इन्द्र तत्त्व को) पहिचान जाय। हे ऋषे ! मैं प्राणतत्त्व हूँ, तुम प्राण हो, सम्पूर्ण भूत प्राणात्मक है। यह प्राणतत्त्व ही हैं जो कि (आकाश में सूर्य्य) तप रहा है (प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः) सो मैं प्राणरूप से ही सर्वत्र व्याप्त हो रहा हूँ। इनमें दक्षिण की ओर रहने वाला प्राण मेरा अन्नात्मक मित्र है। जो कि वैश्वामित्र रूप से तपता हुआ ही मैं (स्व-स्वरूप से) प्रतिष्ठित हो रहा हूँ। इन्द्र ने यही उत्तर दिया।........इस प्रकार यह (इन्द्रप्राण) बृहती-सहस्र (३६०००) सम्पन्न हो गया। इस प्राण के व्यञ्जन (मर्त्य भौतिक भाग) शरीर बनते हैं, घोष भाग आत्मा एवं ऊष्मा भाग प्राण बनता है। (ऐ.आ. २।२।४)।→

एतेन रूपेण सर्वा दिशो विष्टोऽस्मि । तस्य मेऽन्नं मित्रं दक्षिणम् । तद्वैश्वामित्रमेष तपन्नेवास्मीति होवाच......तद्वा इदं बृहती सहस्रं सम्पन्नम् । तस्य यानि व्यञ्जनानि तच्छरीरं, यो घोषः स आत्मा, य ऊष्माणः स प्राणः ।"

(ऐ०आ० २।२।४) इति ।

"सर्वं ह्रीदं प्राणेनावृतम् । सोऽयमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः, एवं सर्वाणि भूतानि—आपिपीलिकाभ्यः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धानीत्येवं विद्यात्"

(ऐ०आ० २।१।७) ।

उक्त बृहती सहस्र प्राण जब विवस्वान नाम के आदित्यप्राण के गर्भ में प्रविष्ट हो जाता है तो वही सांयौगिकप्राण "मनु" नाम से व्यवहृत होने लगता है । विवस्वद् गर्भित मनु नामक यह बृहती प्राण ही आयु का अधिष्ठाता माना गया है, जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है । आयु स्वरूप समर्पक इस प्राण की सत्ता प्रत्येक प्रदार्थ के हृदय (केन्द्र) में मानी जाती है । प्राणापानवायु के आधारस्वरूप व्यान-वायु को ही जीवन (आयु) सत्ता का कारण माना जाता है, जैसा कि उपनिषत् श्रुति कहती है—

न प्राणेनापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ।।
ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति अपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते ।। (कठो० ५।५।३)

व्यान वायु की प्रतिष्ठा हृद्ग्रन्थि है । इस हृद्ग्रन्थि को सुरक्षित रखने वाला पूर्वोक्त विवस्वान-गर्भित मनुरूप बृहतीप्राण ही है, अतएव अन्ततोगत्वा इसी को जीवनसत्ता की प्रतिष्ठा मान लिया जाता है । यह तत्त्व प्राणात्मक है, प्राणरूप है । प्राणतत्त्व वाक् एवं मन के बिना स्वतन्त्र रूप से कभी प्रतिष्ठित नहीं रह सकता । इसी आधार पर मन-वाक् को प्राण की **'वर्त्तनी'** कहा जाता है । ऐसी स्थिति में **"षट्त्रिंशत्सहस्र"** (बृहतीसहस्र) प्राण का अर्थ **"मनोवाङ्मयबृहतीसहस्रप्राण"** यह फलितार्थ हो जाता है । ३६००० मन की कलाएँ हैं, ३६००० ही प्राण की कलाएँ हैं । मन-वाक्–प्राण तीनों अभिन्न हैं, इसलिए आगे जा कर १०८००० (एक लाख आठ हजार) कलाओं की ३६००० कलाएँ ही शेष रह

→ "सम्पूर्ण विश्व प्राण से आवृत है । (इसी आधार पर "**सर्वं प्राणिभिरावृतम्**" यह कहा जाता है) यह आकाश (रोदसी त्रैलोक्य का पुराणाकाश, किंवा सौर आकाश) इस बृहतीप्राण से सर्वतः युक्त हो रहा है । जिस प्रकार यह आकाश बृहतीप्राण से परिपूर्ण बन रहा है एवमेव एक चिऊँटी से आरम्भ कर महाभूत पर्य्यन्त सारा प्रपञ्च बृहतीप्राण से विष्टब्ध है, यह समझना चाहिए" (ऐ०आ० २।१।७) ।

जाती हैं। हम एक-एक दिन एक-एक कला का उपभोग करते हैं। ऐसी ३६००० कलाएँ सौर मण्डल से आ कर हमारे हृदय में उक्थ रूप से प्रतिष्ठित रहती हैं। प्रतिदिन एक-एक कला खर्च हो जाती है। इस प्रकार ३६००० दिन में ३६००० कलाएँ समाप्त हो जाती हैं। ये ही हमारी आयु के १०० वर्ष हैं। ३६ हजार दिन के पूरे १०० वर्ष होते हैं। मनुष्य के आयुसूत्र का यह सामान्य मान है। यह प्राण सूर्य्य से आता है अत. **"आगच्छति"** भाव की प्रधानता से इसे **आयु** कहा जाता है। इसी आधार पर **"नूनं जनाः सूर्य्येण प्रसूताः" "प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः"** इत्यादि निगम प्रतिष्ठित हैं।

हृदय में प्रतिष्ठित उपर्युक्त आयुसमर्पक मनुप्राण (हृदय ग्रन्थि से बद्ध) व्यान-वायुरूप **उपांशु-सवन** (स्थिर शिला) के आधार पर प्राणरूप उपांशु अपानरूप अन्तर्य्याम ग्रह के घर्षण से तापधर्म्मा **वैश्वानर अग्नि** उत्पन्न करता है। हम अपने शरीर को जहाँ से छूते हैं वहीं से उसे गरम पाते हैं। यह ताप उसी संयोजक वैश्वानर अग्नि का धर्म्म है। व्यानतत्त्व के आधार पर सञ्चालित होने वाले प्राणयान के घर्षण से उत्पन्न हुआ है अतएव **पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ** इन तीनों विश्वों के अधिष्ठाता अतएव **नर** नाम से प्रसिद्ध प्राण–व्यान–अपान (क्रमशः आदित्य–वायु–अग्नि) से उत्पन्न इस सांयौगिक ताप लक्षण अग्नि "विश्वेषां नराः–विश्वानराः, विश्वेभ्यो नरेभ्यो जातो वैश्वानरः" इस व्युत्पत्ति से **वैश्वानर** नाम से प्रसिद्ध हो जाता है। इसी वैश्वानरात्मा से पुरुष यावदायु जीवित रहने में समर्थ होता है। इस प्रकार वैश्वानराग्नि प्रवर्त्तक, प्राणापान व्यापार संचालक विवस्वत्प्राणगर्भित बृहती प्राणात्मक आयुसूत्र का अधिष्ठाता हृद्य तत्त्व ही मनु है, यह पूर्व प्रकरण से भलीभाँति सिद्ध हो जाता है।

केन्द्र में **श्वोवसीयस** किंवा **श्वोवस्यसब्रह्म** (तै० ब्रा०) नाम से प्रसिद्ध **अव्यय मन** प्रतिष्ठित रहता है। इस अव्यय मन के अनुग्रह से ही उपर्युक्त विवस्वान् नामक प्राण मनु नाम से व्यवहृत होने लगता है। इसी आधार पर—**"पुनन्तु मनसा धियः"** इत्यादि रूप से मन और मनु का अभेद बतलाया जा रहा है। हृदय में **हृ–द–य** रूप अन्तर्य्यामी अक्षर की सत्ता है। यही **नियतिब्रह्म** है। स्वनियति दण्ड से यह हृदयरूप अन्तर्यामी अक्षर सब के हृदय में प्रतिष्ठित हो कर सब का शास्ता बन रहा है। हृदयस्थ शास्ता-अक्षर एवं इन्द्र प्राणात्मक अव्ययमनोऽवच्छिन्न मनु समानायतन होने से समानधर्म्मा हैं। इसी आधार पर अक्षर सहयोगी इस मनु को भी शास्ता कह दिया जाता है। अव्यय-पुरुष (मन) परात्पर नाम से प्रसिद्ध विश्वातीत **शाश्वतब्रह्म** से अविनाभूत है। मायाशून्य होने से सीमायुक्त अनित्य भावों से विरहित यह परात्पर **शाश्वतधर्म्म** नाम से प्रसिद्ध है जैसा कि पूर्व की **अमृतात्मविज्ञानोपनिषत्** में विस्तार से बतलाया जा चुका है। शाश्वतधर्म्मावच्छिन्न हृदयस्थ अव्ययमन के आधार पर ही मनु तत्त्व प्रतिष्ठित है। इस साहचर्य परम्परा से इस मनु को भी **शाश्वतधर्म्म** नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। परात्परतत्त्व अणोरणीयान् है अतः इस दृष्टि से मनु को **अणोरणीयान्** भी कहा जा सकता है। सौरप्राण हिरण्मय है, रुक्मकान्तियुक्त है, अतएव तत्प्राणप्रधान मनु को **"रुक्माभ"** नाम से भी व्यवहृत किया जा सकता है। हृदय में प्रतिष्ठित होने के कारण इसे **स्वप्नधीगम्य** माना जा सकता है। कारण इसका यही है कि स्वप्नावस्था में मन हृदय स्थान में चला जाता है। अव्ययमनोऽवच्छिन्न होने से मनु को "पर पुरुष" नाम से भी व्यवहृत किया जा सकता है। वैदिक परिभाषानुसार अव्ययतत्त्व **'पर'** नाम से ही प्रसिद्ध है। इस

प्रकार अक्षर समन्वय से **प्रशास्ता** परात्पर समन्वय से **शाश्वतब्रह्म** एवं **अणोरणीयान्** हिरण्मय तत्त्व के सम्बन्ध में **रुक्माभ,** मनोमय होने से **स्वप्नधीगम्य** अव्ययमन के समन्वय होने से **मनु** एवं **परपुरुष**, वेदाग्निमय होने से अग्नि, सर्वसृष्टि प्रवर्त्तक होने से प्रजापति, सोमप्राणप्रधान होने से इन्द्र, ऋषिप्राणघन होने से प्राण नाम से प्रसिद्ध संसारचक्र का प्रवर्त्तक तत्त्व ही मनु* है। मनु के इन्हीं स्वरूप धर्म्मों का निरूपण करते हुए महर्षि भृगु कहते हैं—

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं तं विद्यात् पुरुषं परम् ।।१।।
एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परेप्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ।।२।।
एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्त्तिभिः ।
जन्मवृद्धि क्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत् ।।३।।

कालाग्नि स्वरूप यही अखण्ड मनु उपाधि भेद से **संवत्सर–अयन–पक्ष–अहोरात्र–मुहूर्त्त–घटिका–होरा** आदि विविध खण्ड-भावों में परिणत हो कर संसार-चक्र का प्रेरक बन रहा है। पुराण परिभाषानुसार **मुहूर्त्त** को ही **मनु** कहा जाता है। मनु के अवान्तर खण्ड ही मन्वन्तर हैं। पूर्व में मनु को आयुरूप बतलाया गया है। **"आयुर्म्मर्म्माणि रक्षति"**—**"आयुरत्नंप्रयच्छति"** के अनुसार आयु सूत्र ही मुहुर्मुहु (क्षण-क्षण प्रतिक्षण) आत्मा का त्राण किया करता है अतएव आयुरूप मनु को **"मुहुस्त्रायते"** इस व्युत्पति के अनुसार अवश्य ही **"मुहूर्त्त"** नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। अहरागम सृष्टिकाल है, रात्र्यागम प्रलयकाल है। **"अव्यक्तोऽक्षर इत्याहुस्तमाहुः परमां गतिम्"** (गीता) इस स्मार्त सिद्धान्त के अनुसार अव्यक्त नाम से प्रसिद्ध अक्षर पुरुष ही अहरागम में व्यक्त हो कर सृष्टि का अधिष्ठाता बनता है एवं रात्र्यागम में वही मनुरूप अक्षर पुनः अपने अव्यक्त भाव में परिणत होता हुआ प्रलय का अधिष्ठाता बन जाता है। इसी अभिप्राय से स्मृति कहती है—

अव्यक्तात् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्त संज्ञके ।। (गीता, ८।१८)।

सृष्टिकाल ब्रह्मा का **दिन** है, प्रलयकाल **रात्रि** है। मनु प्रजापति के अहःकाल में उपाधिभेद से १५ विभाग हो जाते हैं, ये ही १५ विभाग रात्रि में होते हैं। पञ्चदश भागों में विभक्त अहःकाल, पञ्चदश भागों में रात्रिकाल, दोनों में आत्मा का त्राण करना इसी मनु का काम है। अहोरात्र (दिन-रात) सुखपूर्वक

---

*इस विषय का विशद विवेचन **शतपथ हिन्दी विज्ञान भाष्य** में देखना चाहिए।

इसी ग्रायुरूप मनु की कृपा से व्यतीत होते हैं, ग्रतएव ग्रहोरात्र के ये ३० विभाग **"मुहूर्त्त"** नाम से प्रसिद्ध हो जाते हैं। इन मुहूर्त्तों का स्वरूप **लोकम्पृणा** नाम की **इष्टकाग्रों** से निष्पन्न होता है। यह मूहूर्त्त काल के ग्रवान्तर क्षुद्रखण्ड हैं। इन्हीं से लोकच्छिद्र पूर्ण होते हैं, ग्रतः कालछिद्र पूरक मुहूर्त्तों को ग्रवश्य ही लोकम्पृणा इष्टका कहा जा सकता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर वाजिश्रुति कहती है—

"लोकम्पृणाभिः (इष्टकाभिः) मुहूर्त्तानाप्नोति।" (शत० १०।४।३।१२)।

"ग्रथ यत् क्षुद्राः सन्त इमाँल्लोकान् पूरयति तस्मात् (मुहूर्त्ताः) लोकम्पृणाः"
(शत० १०।४।२।१८) इत्यादि।

मानुष ग्रहोरात्र में ६० घड़िएँ होती हैं। **"मुहूर्त्तोघटिकाद्वयम्"** के ग्रनुसार एक मुहूर्त्त में दो घटिका (घड़ी) होती हैं। हमारे ग्रहोरात्र के सम्बन्ध में जो कालाग्नि खण्ड मुहूर्त्त नाम से प्रसिद्ध है, ब्राह्म ग्रहोरात्र के सम्बन्ध में वही मुहूर्त्त-मनु किंवा मन्तवन्तर नाम से प्रसिद्ध है। जिस काल-खण्ड को हम ग्रपनी भाषा में **"तिथि"** कह कर सम्बोधित करते हैं, वही ब्राह्मकाल मर्यादा में **"कल्प"** नाम से व्यवहृत होता है। १५ मन्वन्तर ग्रहःकाल हैं, १५ मन्वन्तर रात्रिकाल हैं एक मन्वन्तर प्रातः संध्या में चला जाता है, एक सायं संध्या में ग्रन्तर्भूत हो जाता है। इस प्रकार १४ मन्वन्तर ग्रहःकाल में, १४ मन्वन्तर रात्रिकाल में शेष रह जाते हैं। कहना यही है कि पूर्व प्रतिपादित हृदयस्थ मनु-तत्त्व ही उपाधि भेद से मन्वन्तर रूप में परिणत होता हुग्रा सृष्टिप्रलयसमष्टिरूप संसार चक्र का प्रवर्त्तक बन जाता है। मन्वन्तरों के इन्हीं ३० खण्डों का निरूपण करती हुई वाजिश्रुति कहती है—

"स (मनुप्रजापतिः) पञ्चदशाह्नो रूपाण्यपश्यत्-ग्रात्मनस्तन्वो मुहूर्त्ता लोकम्पृणाः। पञ्चदश वै रात्रेः तद्यन् मुहुस्त्रायंते तस्मान् मुहूर्त्ताः"
(शत० १०।४।२।१८)

केन्द्रस्थ यही मनु **भृगु–ग्रङ्गिरा–ग्रत्रि–मरीचि–पुलस्त्य–पुलह–क्रतु–दक्ष–वसिष्ठ–विश्वामित्र,** इन दस ऋषिप्राणों का प्रवर्त्तक बनता है। दूसरे शब्दों में मन **उक्थ** (मूल बिम्ब) है, १० प्राण इस मूल बिम्ब से निकलने वाले ग्रर्क (रश्मियाँ) हैं। १० संख्यायुक्त होने से ही इस दशविप्राणसमष्टि को (छन्दोविज्ञान परिभाषा के ग्रनुसार) **विराट्** कहा जाता है। इसी ग्राधार पर "विराजमसृजत् प्रभुः" (मनु) यह कहा गया है। इस मनुप्राण के **ग्रण्डज–पिण्डज–उष्मज–उद्भिज** भेद से चार विवर्त्त हैं। एक ही मनु चार प्रकार की मानवी सृष्टि का प्रवर्त्तक बनता हुग्रा चतुर्धा विभक्त हो जाता है। इस प्रकार यद्यपि ग्रण्डजादि चारों ही सृष्टिएँ मानवसृष्टि नाम से प्रसिद्ध होनी चाहिए थीं तथापि मनुष्य में बुद्धि के समन्वय से मनु-प्राण उत्कृष्ट बन जाता है, ग्रतः मानवसृष्टि केवल पिण्डज सृष्टि को ही माना जाता है। इन्द्रगर्भित विवस्वान् की मनुग्रवस्था का यही संक्षिप्त निदर्शन है।

यम-मृत्यु निरुक्ति— वायु विभूति का निरूपण करते हुए हमने आन्तरिक्ष्य आङ्गिरस वायु को **यम** तत्त्व का स्वरूप समर्पक बतलाया था। वास्तव यम अग्निमूर्त्ति (अङ्गिरामूर्त्ति) ही है। केवल आग्नेय वायु ही यमतत्त्व का उद्भावक नहीं है, अपितु जब यह आङ्गिरस वायु पूर्वोक्त विवस्वान् आदित्य के गर्भ में प्रविष्ट हो जाता है, तभी यम नाम से व्यवहृत होता है। दूसरे शब्दों में अग्निगर्भित विवस्वान् ही यम कहलाता है। यही कारण है कि इन्द्र-अग्नि-वरुण प्राण के सम्बन्ध से निष्पन्न होने वाले मनु–यम–मृत्यु तीनों को **वैवस्वत** कहा जाता है। **मनु–यम–मृत्यु** तीनों तत्त्व परस्पर सर्वथा भिन्न हैं परन्तु विवस्वान् तीनों में अभिन्न है। प्रातःकाल से सायंकाल पर्य्यन्त मनु–यम–मृत्यु इन तीनों देवताओं का क्रमशः भोग होता है। **प्रातः सवन** में मनु की प्रधानता है, **माध्यंदिनसवन** में यम का साम्राज्य है एवं **सायं सवन** में मृत्यु देवता का प्रभुत्व है। मुच्यु नाम से प्रसिद्ध वरुणगर्भित विवस्वान् ही "**मृत्यु**" है।

जीवन-यात्रा के प्रवाह को सुरक्षित रखना, दूसरे शब्दों में आयु-सूत्र को अविच्छिन्न रखना मनु का ही काम है। इसी आधार पर "आयुर्वैमनुः" यह कहा जाता है। आयुसूत्र प्रवर्त्तक इस मनु की प्रतिष्ठा सूर्य्य केन्द्र को बतलाया गया है। पुरुष के ब्रह्मरन्ध्र से आरम्भ कर सूर्य्य केन्द्र को स्पर्श करता हुआ एक नाड़ी मार्ग है। इसी नाड़ी मार्ग को उपनिषद् भाषा में **महापथ** कहा जाता है, जैसा कि श्रुति कहती है—

अणुः पन्था विततः पुराणो मां स्पृष्टोऽनुवित्तो मयैव ।
तेन धीरा आपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः ।।१।।
तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः पिंगलं हरितं लोहितं च ।
एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित् पुण्यकृत् तैजसश्च ।।२।।
(बृ०आ०उ० ६।३।८–९)।

उक्त महापथ के द्वारा ही हृदय-स्थान से उठ कर ब्रह्मरन्ध्र द्वारा सूर्य्य केन्द्र तक आयुस्वरूप सम्पादक इन्द्रतत्त्व निरन्तर आया जाया करता है। जितना समय एक निमेष में लगता है, उतने समय में उक्त इन्द्रप्राण तीन बार सूर्य्य-केन्द्र में आता-जाता है। महापथ के द्वारा जब तक यह आयु सूत्र अविच्छिन्न रूप से आता रहता है तभी तक जीवनसत्ता रहती है।

उक्त जीवनयात्रा का स्तम्भन करना नियमनवृत्तिप्रधान यम देवता का अन्यतम कार्य है एवं आयुस्वरूपसमर्पक वैश्वानर अग्नि के अधिष्ठाता व्यान वायु की हृदयग्रन्थि को तोड़ना मृत्यु का अन्यतम कार्य है। जीवनप्रद व्यानवायु को हृदय प्रदेश से उखाड़ कर तदाधारेण प्रतिष्ठित प्राणापान व्यापार को छिन्न-भिन्न कर देता है। प्राण का रुक जाना (दमघुट वन जाना) यम का ही कार्य है। प्राण को शरीर के बाहर निकाल फेंकना मृत्यु का ही कार्य है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो मनु-यम–मृत्यु तीनों का यम में ही अन्तर्भाव मानना पड़ेगा। कारण स्पष्ट है। यम का स्वरूप परिचय कराती हुई श्रुति कहती है—

अपेत वीत वि च सर्पतातो येऽत्र पुराणा ये च नूतनाः ।
अदाद् यमोऽवसानं पृथिव्या अक्रन्निमं पितरोलोकमस्मै ।। (यजु० १२।४५) ।

"क्षत्रं वै यमः विशाः पितरः । क्षत्रं यमो विशा.........। पितृभिः संविदानोऽस्यामवसानं ददाति" (शत० ७।१।१।४) इत्यादि ब्राह्मणश्रुतिप्रमाण के अनुसार यमराज को अवसान का अधिष्ठाता माना गया है । अवसान अवस्थान (नीचा स्थान) है । मनु-मृत्यु भी स्थान भेद से अवस्थान के ही कारण बनते हैं । यही कारण है कि यम के अवस्थान भेद से निम्नलिखित १४ स्वरूप माने जाते हैं—

धर्म्मराजो(१)–यमो(२)–मृत्युः(३)–सर्वभूतशयो(४)–ऽनाकः(५) ।
कालो(६)–वैवस्वतो(७)–व्रध्नः(८)–परमेष्ठी(९)–वृकोदरः(१०) ।।१।।
नील(११)–औदुम्बर(१२)–श्वित्र(१३)–श्वित्रगुप्त(१४)–इमे यमाः ।
अग्नौ सोमं हूयमानं ते नियच्छन्ति वायवः ।।२।।

प्रकृत में इस प्रकरण से हमें केवल यही बतलाना है कि द्वादशादित्यान्तर्गत विवस्वान् नाम का आदित्य ही क्रमशः इन्द्र–अग्नि–वरुण के प्रवेश से मनु–यम–मृत्यु नाम से व्यवहृत होने लगता है । तीनों ही विवस्वान् के गर्भ में प्रविष्ट करने के कारण वैवस्वत नाम से प्रसिद्ध हैं । इस प्रकार पृथिवी केन्द्र से निकल कर २१ (एकविंशस्तोम) पर्य्यन्त अग्नितत्त्व उपर्युक्त **३३ आग्नेय देवता,** ३ वैवस्वत प्राण भेद भिन्न ३६ विभूतियों में परिणत हो जाता है । इसी आधार पर "अग्निः सर्वा देवताः" (ऐत० २।३) यह निगम वचन प्रतिष्ठित है । यह तो हुई प्राणाग्नि की विभूति, अब प्राणात्मिका सोमविभूति की ओर विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है ।

—❀—

दशविध सोमविभूति परिचय—

अग्नि एवं सोम दोनों परस्पर अभिन्न मित्र हैं । सम्पूर्ण विश्व में (दृश्य जगत् की अपेक्षा से) केवल अग्नि-सोम का ही साम्राज्य है (अग्नीषोमात्मकं जगत्) जैसा कि पूर्व प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है । अग्नि-सोम के इसी मैत्रीभाव का दिग्दर्शन कराते हुए ऋषि कहते हैं—

अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति ।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योका ।।
(ऋक्० ५।४४।१५) ।

"समानशीलव्यसनेषुमैत्री" इस सिद्धान्त के अनुसार यद्यपि अग्नि-सोम की मित्रता सम्भव नहीं है। कारण कि अग्नि, अन्नाद (अन्नमत्तीति अन्नादः—अन्न खाने वाला) होने से **भोक्ता** है एवं सोम अन्न (अन्नाद अग्नि द्वारा खाए जाने वाला होने से—अग्निना अद्यते इत्यन्नम्) **भोग्य** है। भोक्ता-भोग्य में तो सामान्य दृष्टि से सहज वैर माना गया है, फिर इनमें मैत्री कैसी ? इस प्रश्न के समाधान के लिए **सहचर भाव–समानायतन–स्वरूप रक्षा** ये तीन भाव ही सामने रखने पड़ेंगे। अग्नि बिना सोम के नहीं रह सकता। उधर सोम बिना अग्नि के प्रकाश में नहीं आ सकता, यही तीनों का सहचर भाव है। अग्नि एवं सोम दोनों ही मर्त्य अमृत भेद से दो प्रकार के हैं। इनमें से मर्त्य (चित्य) अग्नि, एवं मर्त्य सोम से तो वस्तु पिण्ड का निर्म्माण होता है। अग्नि ऊष्म भाव है, सोम शीत भाव है। दोनों का समान समन्वय ही अनुष्णाशीत भाव का प्रवर्त्तक है। फलतः अनुष्ण शीतपिण्ड में दोनों की समान मात्रा सिद्ध हो जाती है। दूसरे शब्दों में अनुष्ण शीत भूपिण्ड में दोनों का आयतन समान है। अमृत अग्नि, एवं अमृतसोम से पिण्ड की महिमा (बहिर्मण्डल) का निर्माण होता है। ३३ अहर्गण वाले इस बहिर्मण्डल के आरम्भ के १६ अहर्गणों में अग्नि का साम्राज्य रहता है एवं १८ से ३३ तक ठीक अर्द्धमण्डल में सोम का प्रभुत्व है। इन दोनों मित्रों का समन्वय सत्रहवें अहर्गण पर होता है। यहीं अग्नि में सोम की आहुति होती है। इसीलिए **"आहूयते यत्र सोमः"** इस निर्वचन के अनुसार इस सत्रहवें स्थान को **आहवनीय** कहा जाता है। अपने अभिन्न मित्र सोम के आगमन से अग्नि का बल बढ़ जाता है १७ तक व्याप्त रहने वाला अग्नि सोमाहुति से प्रज्ज्वलित हो कर २१वें अहर्गण तक व्याप्त हो जाता है अतएव यज्ञस्वरूपसमर्पिका अग्नि की ३३ विभूतियों का (८ वसु– ११ रुद्र– १२ आदित्य– २ अश्विनी भेद भिन्न ३३ यज्ञिय देवताओं का) २१वें अहर्गण पर्य्यन्त सम्बन्ध मान लिया जाता है। इस प्रकार उक्त तीनों भावों से दोनों का मैत्रीभाव सम्पन्न हो जाता है। यह सब कुछ ठीक है, सोम अग्नि का मित्र है अवश्य परन्तु अन्ततोगत्वा सोम अन्न है, भोग्य है। भोग्य मित्र भोक्ता मित्र का समकक्ष नहीं माना जा सकता। इसी स्वाभाविक स्थिति को लक्ष्य में रख कर श्रुति ने **"तवाहमस्मि सख्ये न्योका"** (हे अग्ने ! मैं आपका नीचे दर्जे का मित्र हूँ) यह कहा है। इन दोनों मित्रों में से क्रमप्राप्त सोमविभूति का निरूपण अपेक्षित है। सोमविभूति के पूर्ण स्वरूप परिचय के लिए तो एक स्वतन्त्र निबन्ध अपेक्षित है। ऐसी स्थिति में प्रकरण से समन्वय के लिए इस विभूति के नाममात्र जान लेना पर्य्याप्त होगा।

ऋग्वेद के दसवें मण्डल में सोम का बड़ा विशद निरूपण हुआ है। वहाँ सोम को १० भागों में विभक्त माना गया है, दूसरे शब्दों में सोम की १० जातियाँ मानी गई हैं। वे सोम जातिएँ—१—अश्ना, २—असुर, ३—आप्य, ४—अन्न, ५—भृगु, ६—अङ्गिरा, ७—सह, ८—ब्रह्मणस्पति, ९—रस, १०—यज्ञिय इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इनकी आगे जा कर अवान्तर अनेक अवस्थाएँ हो जाती हैं। जैसा कि निम्नलिखित साधारण परिचय से पाठकों को विदित हो जाएगा।

१—अश्ना सोमः (घनतालक्षणः—चतुर्विधः)

घनता लक्षण यह अश्ना सोम **ध्रुव—धर्त्र—धरुण—धर्म्म** भेद से चार भागों में विभक्त है। प्रस्तरादि में जो कठोरता (निबिडावयवता) देखी जाती है वह **ध्रुव** नाम के अश्ना-सोम का कार्य है। शीतर्त्तु में इसी सोम की प्रधानता रहती है, अतएव इस ऋतु में पानी तुषार (बर्फ) बन जाता है। अधिक शीत में इसी सोम से शरीरावयव (अङ्गुल्यादि) स्तब्ध हो जाते हैं। वह अश्ना सोम जो पदार्थों को तरल बना डालता है, **धर्त्र** नाम से प्रसिद्ध है। प्रकृति में जलादि का, शरीर में असृगादि (रुधिरादि) तरल धातुओं का स्वरूप समर्पक यही धर्त्र सोम है। यह अश्ना सोम जो पदार्थों को विरलावस्था (वाष्पावस्था) में परिणत कर डालता है **धरुण** नाम से प्रसिद्ध है। प्रकृति में वायु आदि, अध्यात्म में श्वास प्रश्वासादि का अधिष्ठाता यही धरुण सोम है। इसी अश्ना सोम की चौथी अवस्था **धर्म्म** है। गुणतत्त्व ही धर्म्म हैं। ये पदार्थों के आश्रित धर्म्म हैं। इस प्रकार अवस्था-भेद से एक ही अश्ना सोम चार भागों में विभक्त हो जाता है—

१—अश्ना—
- १—ध्रुवः———→काठिन्यजन्य———→अश्ना, काष्ठं, अस्थि, मांसम्।
- २—धर्त्रः———→तरलता जनकः———→आपः, घृतं, तैलं, मेदः, असृक्।
- ३—धरुणः———→विरलता जनकः———→वायुः, तेजः, श्वासः, प्रश्वासः।
- ४—धर्म्मः———→गुणकर्म्म योजकः———→शब्दः, अर्थः, रूपं, रसः, गन्धः।

२—असुर सोमः (विष्टम्भनलक्षणः—९९ नवतिनव विधः)

पदार्थों का स्तम्भन कर तद्गत भावों का अन्य भावों के आगमन के साथ निरोध करने वाला, स्तम्भनवृत्ति का अधिष्ठाता सोमविशेष ही **असुर** नाम से प्रसिद्ध है। इस आसुरसोम की ९९ अवस्थाएँ हो जाती हैं जिनका कि विशद निरूपण **सृष्टिविज्ञान—ब्रह्मविज्ञान** आदि में द्रष्टव्य है। इनमें वृत्र नमुचि-बल नाम के तीन असुर मुख्य माने जाते हैं। इन तीनों में ही ९९ अवस्थाओं का अन्तर्भाव है। वृत्र-नमुचि-बल तीनों की (प्रत्येक की) ३३ अवस्थाएँ हो जाती हैं। आवरण करना वृत्र का कार्य है अतएव "सर्वं-वृत्वाशिष्ये" (शत. १।१।३।४) इस ब्राह्मणोक्त निर्वचन के अनुसार **वृत्र** कहा जाता है। रात्रि का अन्धकार चन्द्रग्रहण, सूर्य्यग्रहण यह सब स्वर्भानु सैंडिकेय नाम से प्रसिद्ध चांद्रवृत्र एवं पार्थिव वृत्र का ही कार्य है। दूसरा है नमुचि। अवरोध करना इस असुर का मुख्य कार्य है। बद्दलों में पानी भरा रहता है परन्तु इस नमुचि-प्राण के प्रवेश से रहता हुआ भी पानी भू-पृष्ठ पर नहीं गिरने पाता अतएव "न मुञ्चति" (यजु० १९।३४) इस व्युत्पत्ति के अनुसार **नमुचि** नाम से व्यवहृत किया जाता है। इन्द्र-प्राण के आघात से पानी में फेन उत्पन्न हो जाता है। इसी फेनात्मक क्षोभ से नमुचि-प्राण प्रतिमूर्च्छित हो जाता है, पानी गिर पड़ता है (शत० १।१।३।४)। तीसरा है बलासुर। सौर—चान्द्र—आग्नेय आदि तेजस्वी पदार्थों में से

निकलने वाली **गौ** नाम की रश्मियों का अवरोध करना "**बलासुर**" का कार्य है। इन बल ग्रन्थियों को तोड़ना भी इन्द्रविशेष का ही कार्य है अतएव इन्द्र को **बलाराति** कहा जाता है। भौमस्वर्ग व्यवस्था में बल-प्राण प्राकृतिक, अतएव बल नाम से ही प्रसिद्ध मनुष्यविध असुर ने एक बार देवगुरु बृहस्पति की गाएँ चुरा ली थीं। इन्हें एक अज्ञात पर्वतकन्दरा में छुपा दी थीं। आगे जा कर सरमा नाम की शुनी (कुत्ती) की सहायता से इन्द्र ने पता लगा कर गायों को मुक्त किया था (ऋक्० ५।४५।७)। एवं इसी अपराध पर इन्द्र ने मारुति सेना के बल पर बलासुर का संहार किया था। एक वस्तु का दूसरी वस्तु में अन्नरूप में आहुत होना ही अन्न है। यज्ञस्वरूप सम्पादक इस अन्नादान का अवरोध कर यज्ञकर्म बन्द कर देना उक्त तीनों असुरों का मुख्य कर्म्म है, अतएव इन्हें **यज्ञावरोधक** एवं **अराति** नामों से व्यवहृत किया जाता है।

२—असुरः—
- १—वृत्रः——→आवरणम्——→३३
- २—नमुचिः——→निरोधः——→३३
- ३—बलम्——→गवां संहरणम्——→३३

}→९९
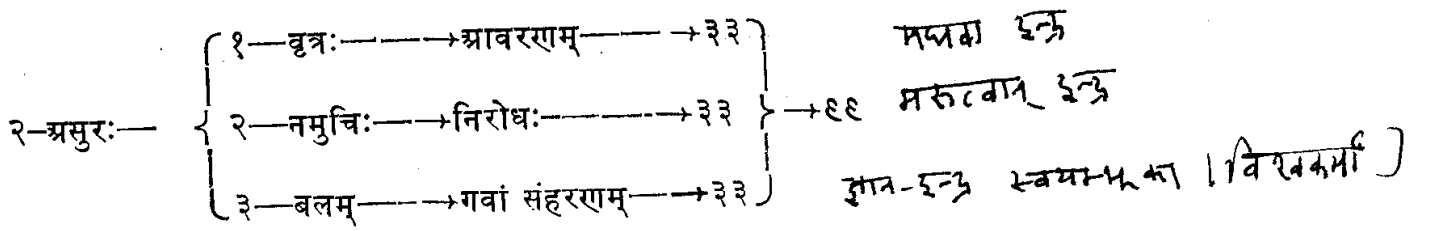
आन्तरिक्ष्य **मरुत्वान् इन्द्र** पर्जन्यरूप से ३३ अवस्थापन्न नमुचि प्राण का नाश करता है। स्वायम्भुव विश्वकर्म्मा नाम का **ज्ञानेन्द्र** ज्ञानज्योति रूप से ३३ अवस्थापन्न बलासुर का विनाश करता है। इस प्रकार स्वायम्भुव ज्ञानज्योतिर्मय ज्ञानेन्द्र, सौरभूतज्योतिर्म्मय मघवेन्द्र, आन्तरिक्ष्य वायवेन्द्र ही क्रमशः बल–वृत्र–नमुचि का विनाश करते हैं। इसी अभिप्राय से इन्द्र को ९९ असुरों का विनाशक माना गया है जैसा कि मन्त्रश्रुति कहती है "जघान नवतीर्नव" (ऋक् सं० १।८४।१३)।

३—आप्यः (जाया–धारालक्षणः)

आप्य सोम की **इन्दु-दिक्** भेद से दो अवस्थाएँ हो जाती हैं। इन्दुसोम **भास्वर सोम** कहलाता है, दूसरा **दिक्सोम** नाम से प्रसिद्ध है। भास्वरसोम पिण्डात्मक (सायतन) होता हुआ "**सहृदयं सशरीरं सत्यम्**" इस लक्षण के अनुसार "**सत्य**" है। दिक्सोम पिण्डप्रान्तरूप विशाल अन्तरिक्ष में वायुरूप से व्याप्त होने के कारण "**अहृदयमशरीरं ऋतम्**" इस लक्षण के अनुसार **ऋत** है। दोनों ही सोम–जाया धारा लक्षण हैं। अग्नि में आहुत हो कर सम्पूर्ण पार्थिव पदार्थों के प्रादुर्भावक होने से इस आप्य सोम को **जाया** (जनिप्रादुर्भावे) कहा जाता है एवं ऋतरूप से सब का आलम्बन होने से **धारा** नाम से प्रसिद्ध है। लोक स्वरूपनिर्म्माण करना (पिण्ड स्वरूप सम्पादन करना) जाया लक्षण भास्वर सोम का मुख्य कार्य है एवं लोकप्रान्त (बहिः सीमा) स्वरूप सम्पादक धारा लक्षण दिक्सोम है। पिण्ड भूमि है, यह सत्य है। सत्यसोमात्मक सत्यपिण्ड ऋक्सोमात्मक ऋतमहिमा के गर्भ में ही प्रतिष्ठित रहते हैं। लोकनिर्म्माण (पिण्ड निर्म्माण) भी आप्यसोम (भास्वर सोम) से ही होता है एवं लोक प्रान्त (लोकमहिमा) निर्म्माण भी आप्य सोम से ही होता है। वही भास्वरापेक्षया जाया लक्षण (आधेय) है, दिगपेक्षया धारालक्षण (आधार) है। आप्यसोम के इन्हीं दोनों लक्षणों का दिग्दर्शन कराते हुए ऐतिह्य कहता है—

"अप्सु तं मुञ्च भद्रं ते लोकाह्यप्सु प्रतिष्ठिताः ।
आपोमयाः सर्वरसाः सर्वमापोमयं जगत् ।।"

३—आप्यः {
१—इन्दुः———→भास्वरसोमः———→जायालक्षणः, लोकस्वरूपसम्पादः सत्यः
२—दिश्यः———→दिक्सोमः———→धारालक्षणः, लोकप्रान्तस्वरूप सम्पादः ऋतः

४—अन्नम् (यज्ञलक्षण सोमः)

यज्ञ स्वरूप समर्पक सोम ही अन्नसोम नाम से प्रसिद्ध है। अन्न भेद से यह सोम **राजा–वाज–ग्रह–हवि** भेद से चार भागों में विभक्त है। राजा सोम **बल–वीर्य्य–पराक्रम** के आधारभूत क्षत्रवीर्य्य को उत्पन्न करता है। राजा सोम के द्वारा ही **राजसूय यज्ञ** सम्पन्न होता है। राजा सोम का सम्बन्ध सूर्य्यमण्डल से है। वाज सोम उत्साह का प्रवर्त्तक है। इसका पारमेष्ठ्य मण्डल से सम्बन्ध है। इसके अधिष्ठाता परमेष्ठी के उपग्रहभूत बृहस्पति के साथ हैं अतएव इस वाजसोम से निष्पन्न होने वाले **वाजपेय यज्ञ** को **"बृहस्पति सव"** कहा जाता है। राजासोम जहाँ क्षत्रवीर्य्य का प्रवर्त्तक है, वहाँ वाजसोम को ब्रह्मवीर्य्य का प्रवर्त्तक माना गया है। आन्तरिक्ष्य वायव्यसोम **ग्रहसोम** है। इसके **उपांशु–अन्तर्याम–स्पृत** आदि अवान्तर ४० भेद हैं। इसी ग्रह-सोम से **ग्रहयाग** नाम से प्रसिद्ध सप्तसंस्थ **ज्योतिष्टोम** यज्ञ का स्वरूप सम्पन्न होता है। उक्त ग्रहसोम की धारा–सव–पवित्र–अमृत ये चार प्रधान जातिएँ मानी गई हैं। चौथा हविसोम पार्थिव ओषधि (व्रीहियवादि) में रहने वाला अन्न-सोम है। शरीराग्नि को, दूसरे शब्दों में शरीर में रहने वाले प्राण-देवताओं को इस हविसोम का अन्यतम कार्य है। इसी से **हविर्यज्ञ** स्वरूप निष्पन्न होता है।

५—अन्नम्— {
१—राजा (सौरः)——→(बलवीर्य्य-पराक्रमजनकस्य क्षत्रवीर्य्यस्य प्रदाता)
२—वाजः (पारमेष्ठ्यः)→(उत्साहजनकस्यवाङ्मय ब्रह्मवीर्य्यस्य प्रवर्त्तकः)
३—ग्रहः (आन्तरिक्ष्यः)→वायव्यश्चत्वारिंशद्विधः (धाराः-सवाः पवित्राणि-अमृतानि)
४—हविः (पार्थिवः)——→(शारीर देवतानां पोषकः)

५—भृगुः–(वायुलक्षणः–शुक्रग्रहोपनीतश्चतुर्विधः)

चारों दिशाओ में स्थिर वायुरूप में परिणत होने वाला सोम "भृगुसोम" है। दिग्भेद से इसकी **प्राण–पवमान–मातरिश्वा**–सविता यह चार अवस्थाएँ हो जाती हैं। श्वास-प्रश्वास का अधिष्ठाता प्राण-सोम है, इसकी सत्ता पूर्व में है। सूर्य्य इसका उक्थ है। रसासृग्मांसादि को पवित्र रखने वाला सोम **पवमान** है। इसकी सत्ता **पश्चिम** में है। पिण्डस्वरूप समर्पक, एवं पिण्डस्वरूप रक्षक, अतएव **वराह** नाम

से प्रसिद्ध वायव्य सोम मातरिश्वा नाम से प्रसिद्ध है। इसका उक्थ अग्नि है, इसकी सत्ता दक्षिण में है। कर्मप्रेरक वायव्य सोम **सविता** नाम से प्रसिद्ध है। इसका उक्थ चन्द्रमा है, यह उत्तर में प्रतिष्ठित है। ये चारों ही भार्गव सोम हैं।

५—भृगुः
- १—प्राणः———→प्राङ्जः
- २—पवमानः———→पश्चिमैजः
- ३—मातरिश्वा———→दक्षिणैजः
- ४—सविता———→उत्तरैजः

६—अङ्गिरा—(ज्योतिर्लक्षणः—बृहस्पत्युपनीतः)

ज्योतिर्लक्षण सोम **अङ्गिरा** नाम से प्रसिद्ध है। यह ज्योतिसोम दूसरे शब्दों में ज्योतिप्रवर्त्तक सोम निम्नलिखित पाँच स्थानों में विभक्त हो रहा है——

१—सूर्य्यः———→स्वज्योतिः

२—चन्द्रः———→परज्योतिः

३—विद्युत्———→स्वज्योतिः

४—नक्षत्रम्———→उभयज्योतिः

५—वैश्वानराग्निः———→परज्योतिः

७—सहः—(पितृलक्षणः सापिण्ड्य स्वरूप सम्पादकः)

२८ नक्षत्रों के सम्बन्ध से २८ अवस्थाओं में परिणत होने वाला पितृप्राणस्वरूपसमर्पक सोम **'सह'** नाम से व्यवहृत होता है। इस सह की **रेतः—श्रद्धा—यश** ये तीन अवस्थाएँ हो जाती है। **शुक्र** नाम से प्रसिद्ध घनतालक्षण सहसोम **"रेतः"** कहलाता है। तरलता लक्षण सत्यभाव प्रवर्त्तक सहसोम **श्रद्धा** नाम से व्यवहृत होता है एवं विरलता सम्पादक पितृप्राणमूर्त्ति सहसोम **यश** नाम से व्यवहृत होता है।

८—रसः

सोमवल्ली में रहने वाला, वैध ज्योतिष्टोम का स्वरूप समर्पक अत्यन्त मादक सोमरस ही "रससोम" नाम से प्रसिद्ध है। सुरा–सीधु–आसव भेद भिन्न जितने भी मादक पदार्थ हैं, बुद्धि को [बुद्धि प्रवर्तक स्नायु तन्तुओं को] नष्ट करने वाले हैं। परन्तु मादक पदार्थों में एकमात्र वल्लीसोम ही ऐसा पदार्थ है, जो कि मादक होता हुआ भी बुद्धिवर्द्धक है। इस सोमरस का पान वंशपरम्परा पर निर्भर है। यदि बिना वंशपरम्परा के कोई व्यक्ति दुराग्रहवश सोमरस पी लेता है तो उसके कोढ निकल आते हैं। इस विप्रतिपत्ति को दूर करने के लिए प्रारम्भ में नियत मात्रा में इसका सेवन करना पड़ता है। क्रमशः आत्मसात् हो जाने पर ही यह लाभप्रद होता है। रक्त में एवं शिराओं में अन्तर्य्यामसम्बन्ध से सञ्चार होने के अनन्तर ही इसके पुत्रादि (वंशधर) सोमपान के अधिकारी बनते हैं। ऐसा वंश-ब्राह्मणग्रन्थों में "सोमपीथी" नाम से व्यवहृत हुआ है।

जिस सोमवल्ली से यह रस निकलना है, उसके १५ पत्ते होते हैं (थे)। शुक्लपक्ष की एक-एक तिथि क्रम से एक-एक पत्ता निकसित होता है। पूरे १५ दिन में १५ पत्तों का उदय होता है। कृष्णपक्ष में उसी क्रम से एक-एक पत्ता झड़ने लगता है। अन्त में प्रतिपदा को केवल डण्ठल शेष रह जाता है। सोमवल्ली के पत्ते फास्फोरस के समान चमकीले होते हैं। भौमस्वर्ग में रहने वाले देवता, एवं पृथ्वी में (भारतवर्ष में) रहने वाले मनुष्य इस वल्ली के रस से यज्ञ–साधन कर, यज्ञबल के द्वारा ही असुर राक्षसों को परास्त करने में समर्थ होते थे। फलतः असुर-प्राण के उपासक इनके यज्ञों पर, एवं यज्ञ-साधक सोमवल्ली पर निरन्तर आक्रमण किया करते थे। इस सोमवल्ली की रक्षा के लिए अत्रिपुत्र चन्द्रमा नियत किये गये थे। दुःख के साथ कहना पड़ता है कि देवगुरु-पत्नी तारा के अप्रिय सम्वाद को लेकर चन्द्रमा देव विरोधी बनते हुए असुरों के उपोद्बलक बन गए। चन्द्रमा की इस उदासीनता से अनुचित लाभ उठाते हुए असुरों ने सोमवल्ली को नष्ट कर दिया। आज सोमवल्ली सर्वथा अप्राप्य है। सोमवल्ली के साथ-साथ ही भौम देवता भी एकान्ततः निर्मूल हो चुके हैं। जब तक सोमवल्ली स्वस्वरूप से सुरक्षित रही, हमारी यज्ञविद्या अक्षुण्ण बनी रही। सोमवल्ली के विनाश के साथ वास्तविक यज्ञकर्म भी सर्वथा उच्छिन्न हो गया।

९—ब्रह्मणस्पति

पारमेष्ठ्य, अम्भ नाम से प्रसिद्ध, पवित्रता सम्पादक गाङ्गेय सोम ही "ब्रह्मणस्पति" नाम से प्रसिद्ध है। इस पवित्र सोम का निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते। प्रभूर्गात्राणि पर्येषिविश्वतः।
अतप्ततनूर्न तदामो समश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत् समासत् ॥

(ऋक्० ६।८३।१)।

जब तक उक्त लक्षण गाङ्गेय सोम शरीर में रहता है, तभी तक शरीर पवित्र रहता है, पूतिभाव रहित रहता है। पवित्र सोम के निकल जाने पर शरीर सड़ने लगता है। इसकी प्रतिष्ठा की मूलभित्ति तप्ततनू है। तात्पर्य यही है कि शरीर में व्यान के आधार पर प्राणापान का घर्षण होता रहता है, तब तक सर्वाङ्गशरीर में ताप लक्षण वैश्वानर अग्नि का संचार होता रहता है। जब तक शरीर में यह ताप लक्षण अग्नि प्रतिष्ठित है, तभी तक शरीर में पवित्र सोम प्रतिष्ठित है। अग्नि के निकलने के अव्यवहितोत्तरकाल में ही प्राणमूर्ति यह पवित्र सोम निकल जाता है। जब तक शरीर में रहता है, तब तक दूषित वारुण कीटाणुओं का प्रभुत्व नहीं होता। इसके उत्क्रान्त होते ही वारुण कीटाणुओं को प्रवेश करने का अवसर मिल जाता है। शरीर सड़ने लगता है। इसी सोम से भागीरथी का जन्म हुआ है। पारमेष्ठ्य तृतीय द्युलोक से सर्वप्रथम यह सोम सौर ब्रह्माण्ड का भेदन कर सूर्य्यमण्डल में आता है। वहाँ से सजातीयाकर्षण के अनुसार सौम्या उत्तर दिशा में जाता हुआ व्योमकेश चान्द्रमण्डल में प्रतिष्ठित होता है। वहाँ से अलकनन्दा में मिल कर गङ्गा रूप में परिणत होता है। तीन विभिन्न पथों का अनुगमन करने के कारण ही यह ब्रह्मदेवी भगवती भागीरथी "त्रिपथगा" नाम से प्रसिद्ध है। जब प्राणी मुमूर्षु होता है तो इसमें ब्रह्मणस्पति सोम अल्पमात्रा में रह जाता है। इस अल्पता को दूर करने के लिए ही उस समय आर्य ऋषियों ने गाङ्गेय पान कराना आवश्यक समझा है। इतर साधारण जल की अपेक्षा गाङ्गेय तोय में क्या विशेषता है, यह आज परीक्षित विषय हो चुका है। गंगा में अवश्य ही कीटाणुओं के नाश की शक्ति विद्यमान है।

१०—यज्ञियः (उत्क्रान्ति लक्षणः)

प्रकृतियज्ञ में (सौरअग्नि) में पारमेष्ठ्य ब्राह्मणस्पत्य सोम निरन्तर आहुत होता रहता है। निरन्तर दिव्य आदित्याग्नि में श्रद्धा नाम का चान्द्रसोम, पर्जन्य अग्नि में सोम नाम का आन्तरिक्ष्यसोम, पार्थिव अग्नि में वृष्टि नाम का आप्यसोम, एवं शारीराग्नि में औषधि (अन्न) रूप सोम आहुत होता रहता है। अचेतन–भौतिक–असंज्ञजीवों में (भौतिक जड़ पदार्थों में) दिक्सोम आहुत होता रहता है। इसी प्रकार वैध यज्ञ में यज्ञकर्ता यजमान आहवनीयाग्नि में वल्लीसोम, एवं पुरोडाशसोम की आहुति डाला करते हैं। अग्नि में आहुत होने वाला यह सोम प्राणरूप में परिणत हो कर अग्नि से उत्क्रान्त हो कर तत्तत् पदार्थों में अतिशय उत्पन्न करता हुआ स्वस्व पिण्ड पदार्थ के द्युलोक में प्रतिष्ठित होता रहता है। यह उत्क्रान्त सोम ही **यज्ञिय** नाम से प्रसिद्ध है। इसी से दैवात्मा का स्वरूप निर्माण होता है। इसी दैवात्मा के आकर्षण से आकर्षित यज्ञकर्ता यजमान का कर्म्मभोक्ता मानुषात्मा नियत आयुभोगानन्तर स्थूल शरीर के छोड़ने पर स्वर्गलोकस्थान नाम से प्रसिद्ध-प्रसिद्ध पृथिवी के सप्तदश स्थान में प्रतिष्ठित होता है।

पूर्व के अग्नि विभूति प्रकरण में हमने रुद्रतत्त्व का दिग्दर्शन कराया है। रुक्ष अतएव क्षुब्ध वायव्याग्नि रुद्र है। ठीक इसके विपरीत उपर्युक्त सौम्यवायु शान्तिधर्म्मा शिव है। रुद्र-वायु ही सौम्य वायु प्रवेश से शान्त होता हुआ शिवस्वरूप में परिणत हो जाता है। वही वायु शुद्ध आग्नेय होता हुआ रुद्र है, सोम प्रवेश से वही शिव है। इसी अभिप्राय से **"अग्निर्वारुद्रः, तस्यैते द्वौ तन्वे घोरान्या च**

शिवान्या च" यह कहा गया है । दशविधसोम का निरूपण करते हुए पूर्व में हमने ब्रह्मणस्पति नाम के जिस पारमेष्ठ्य सोम का दिग्दर्शन कराया है, उसकी अवान्तर **अम्भ–मरीचि–मर–आपः** यह चार अवस्थाएँ हो जाती हैं । तीसरे द्युलोक में (परमेष्ठी में) अम्भ का, दूसरे शब्दों में वायु समुद्र में सर्वथा लघुभार अम्भ नाम का पानी प्रतिष्ठित है । दूसरे द्युलोक (सूर्य्य) में मरीचि नाम का अग्निप्रकृति पानी प्रतिष्ठित रहता है । पृथिवी में भौतिक भाग से प्रतिमूर्च्छित अतएव मर नाम से प्रसिद्ध पेय पानी प्रतिष्ठित रहता है । चान्द्रमण्डलगत स्नेहनधर्म्मा वृष्टि का जनक पानी ही श्रद्धा नाम से प्रसिद्ध है । यही आन्तरिक्ष्य आपः है । इन्हीं चारों अवस्थाओं को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

या दिव्या आपः पयसा सम्बभूवुर्या आन्तरीक्ष्या उतपार्थिवीर्य्याः ।
हिरण्यवर्णा यज्ञियास्तान आपः शिवा संश्योना सुहवाभवन्तु ।।

१—अम्भः———→या दिव्या आपः पयसा सम्बभूवुः ।
२—मरीचिः———→हिरण्यवर्णा यज्ञियाः ।
३—मरः———→उतपार्थिवीर्याः ।
४—आपः———→या अन्तरिक्ष्याः ।

अग्नि आङ्गिरस है, सोम भार्गव है, यम मध्यपतित है । अग्नितत्त्व, किंवा अङ्गिरा तत्त्व घन–तरल–विरल इन अवस्थाओं के कारण अग्नि–वायु–आदित्य इन तीन भागों में विभक्त है । इन्हीं तीनों अवस्थाओं के कारण सोमतत्त्व, किंवा भृगुतत्त्व अब्–वायु–सोम इन तीन भागों में विभक्त है, एवमेव मध्यपतित, अतएव उभय धर्म्मा यम की भी **उत्सादनलक्षणयम, स्तम्भनलक्षणयम, अवसानलक्षणयम** भेद से तीन अवस्थाएँ होती हैं ।

विश्व के यच्चयावत् पदार्थों की **उत्पत्ति**, स्थिति, **नाश** ये तीनों व्यापार अवस्थानयुक्त उपयुक्त अग्नि–सोम–यम पर ही निर्भर हैं, अतएव इन्हें **"पितर"** कहा जाता है। सम्पूर्ण **देवता**, सम्पूर्ण **भूत**, सम्पूर्ण **जीव** (प्रजा), इन्हीं तीनों से उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हो कर इन्हीं के आधार से जीवित रहते हैं एवं अन्ततोगत्वा इन्हीं तीनों में सारे प्रपञ्च का लय हो जाता है, परन्तु इतना विवेक अवश्य कर लेना चाहिए कि सोम से उत्पत्ति होती है, अग्नि से स्थिति होती है, एवं यम से विनाश होता है।

पितरः—
- १—सोमः (भृगुः)———→प्रभवस्थानः (प्रभवः)
- २—अग्निः (अङ्गिराः)——→स्थिति स्थानः (प्रतिष्ठा)
- ३—यमः (वायुः)———→परायण स्थानः (परायणम्)

प्रकरणोपसंहार—

उपर्युक्त तीनों पितर क्रमशः **उत्तर**–दक्षिण–मध्यस्थान में अपनी-अपनी प्रधानता रखते हैं। आग्नेय पितर उक्थरूप दक्षिण दिशा में प्रतिष्ठित रहते हुए अर्क रूप से निरन्तर उत्तर की ओर जाया करते हैं। दिग्विज्ञान के अनुसार दक्षिण अवाचीन (नीचा) स्थान है अतएव इन आङ्गिरस पितरों को **"अवरपितर"** कहा जाता है। सौम्य पितर उक्थ रूप से उत्तर दिशा में प्रतिष्ठित रहते हुए अर्क रूप से निरन्तर दक्षिण की ओर जाया करते हैं। उत्तर पर-स्थान है, अतएव इन सौम्य पितरों को **"पर पितर"** कहा जाता है एवं मध्याकाशस्थ याम्य पितर निरन्तर नीचे की ओर आया करते हैं। ये ही **"मध्यम पितर"** नाम से प्रसिद्ध हैं। प्राकृतिक नित्य पितरों का यही संक्षिप्त परिचय है। इन तीनों नित्य प्राकृतिक पितरों के पितर (जनक) **अङ्गिरा–वसिष्ठ–भृगु** ये तीन ऋषिप्राण हैं। आङ्गिरस (आग्नेय) पितर वासिष्ठ (याम्य) पितर, भार्गव (सौम्य) पितरों की मूल प्रतिष्ठा क्रमशः अङ्गिरा–वसिष्ठ–भृगु ऋषि ही हैं। सर्वविध पितर प्राण के जनक ये ही ऋषिप्राण हैं अतएव इन ऋषि प्राणों के लिए अवश्य ही **"पितॄणांपितरः"** यह कहा जा सकता है। इन पितृपितर रूप ऋषिप्राणों से उत्पन्न प्राणमात्र पितर हैं। पितरों से देव एवं असुर-सृष्टि होती है। देवासुर के समन्वय से विश्वसृष्टि होती है। इसी सृष्टि रहस्य को लक्ष्य में रख कर भगवान् मनु कहते हैं—

मनोर्हैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः।
तेषामृषीणामाद्यानां पुत्राः पितृगणः स्मृताः ॥१॥
ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देव दानवाः।
देवैश्च जगत् सर्वं चरं स्थाण्वनु पूर्वशः ॥२॥

इति पितरस्वरूपविज्ञानोपनिषदि पितॄणांपितरविज्ञानोपनिषत् समाप्ता

अथ

पितरस्वरूपविज्ञानोपनिषदि

दिव्यपितरविज्ञानोपनिषत्

तृतीया

[३]

दिव्यपितर स्वरूप विज्ञानोपक्रम—

पूर्व प्रकरण में पितरप्राण के मौलिक तत्त्व (प्रभवतत्त्व) का विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। उसी प्रकरण में प्रसङ्गोपात्त प्राकृतिक नित्यपितरों का यही संक्षेप में दिग्दर्शन कराया जा चुका है। वे प्राकृतिक पितर **अग्नि—सोम—यम** नामों से प्रसिद्ध हैं। ये ही तीनों मौलिक पितर हैं। आगे बतलाए जाने वाले अवान्तर सभी पितर इन्हीं तीनों मौलिक पितरों से सम्बन्ध रखते हैं। ये प्राकृतिक नित्य पितर प्रकृति-भेद से क्रमशः **दिव्यपितर—ऋतुपितर—प्रेतपितर** इन तीनस्वरूपों में परिणत हो जाते हैं। प्रत्येक विभाग में अग्नि—सोम—यम तीनों मौलिक पितर अन्वाभक्त (शामिल) हैं। इन तीनों में श्राद्धकर्म्म की अपेक्षा प्रधान रूप से प्रेतपितर ही निरूपणीय है अतएव **सूची—कटाह—न्याय** से सर्वप्रथम दिव्य एवं ऋतुपितरों का ही निरूपण अपेक्षित है। इन दोनों में भी क्रमप्राप्त पहिले दिव्य-पितरों का ही स्वरूप विज्ञ पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जाता है।

सौम्यासः पितरः—

अन्नपितर—अन्नादपितर—अनुभयपितर भेद से दिव्यपितर तीन भागों में विभक्त माने गए हैं। इन तीनों में प्रथम अन्नपितर से पदार्थों की जीवन सत्ता रहती है। अन्नाद-पितर से जीवन सत्ता का उच्छेद होता है एवं अनुभय पितर से पदार्थों का स्तम्भन होता है। प्रत्येक पदार्थ (वह जड़ हो अथवा चेतन) अपनी जीवन-सत्ता के लिए अन्नात्मक पितरप्राण को खाया करता है। पितरप्राण को (अन्नपितर को) खाने वाले वे

भोक्ता पदार्थ **शीत–उष्ण–अनुष्णाशीत** भेद से तीन भागों में विभक्त हैं। अग्निप्रधान पदार्थ उष्णप्रकृतिक हैं, सोमप्रधान पदार्थ शीतप्रकृतिक हैं, एवं उभयप्रधान पदार्थ अनुष्णाशीत प्रकृतिक हैं। दूसरे शब्दों में आग्नेय पदार्थ उष्ण हैं, सौम्य पदार्थ शीत हैं, उभय प्रकृतिका वाक् अनुष्णाशीता है। अग्निप्रधान आग्नेय पदार्थों में आहुत होने वाले अन्न पितर "अग्नौ–आत्ता–आहुता–भवन्ति, अग्नावन्नरूपेण गृह्यन्ते" "अग्निना स्वदिताः–आस्वादिता भुक्ता वा" इस निर्वाचन के अनुसार "**अग्निष्वात्ताः**" नाम से प्रसिद्ध होते हैं। आर्द्रजलादि में आहुत होने वाले अन्नपितर "जलादिषु आर्द्रपदार्थेषु सीदन्ति, भुक्ता सन्तास्तिष्ठन्ति" इस निर्वचन के अनुसार **सोमसद्** नाम से व्यवहृत होते हैं। **ओषधि-वनस्पति** आदि अनुष्णाशीत किंवा शीतोष्ण हैं। इनमें आहुत होने वाले अन्नपितर "अनुष्णाशीत पदार्थेषु सीदन्ति तत्र भुक्तास्तिष्ठन्ति" इस निर्वचन के अनुसार **बर्हिषद्** नाम से प्रसिद्ध हैं। अनुष्णशीत पदार्थों के लिए संकेत भाषानुसार "**बर्हि**" शब्द प्रयुक्त हुआ है अतएव इन्हें **बर्हिषद्** कहना न्यायसङ्गत हो जाता है। अन्नरूप होने से उक्त तीनों पितरों को **सौम्यासः**※ कहा जाता है। अग्निपदार्थ उष्णपदार्थ आग्नेय हैं, सोमप्रधान शीत पदार्थ सौम्य हैं, एवं उभयप्रधान अनुष्णशीत पदार्थ याम्य हैं। तीनों में से सौम्यपितर अन्नरूप से उक्त तीनों अन्नादों में आहुत हो कर तीनों पदार्थों की रक्षा करने में समर्थ होते हैं।

१—सौम्यासः {
१—अग्निष्वात्ताः——→उष्णद्रव्यैर्युक्ताः———→आग्नेयाः पितरः
२—सोम सद्———→शीत द्रव्यैर्युक्ताः———→सौम्याः पितरः
३—बर्हिषदः———→अनुष्णाशीतद्रव्यैर्युक्ताः→याम्याः पितरः
} →अन्नपितरः

अङ्गिरसः पितरः— दूसरा विभाग अन्नाद पितरों का है। प्रत्येक पदार्थ प्राजापत्य संस्था से सम्बन्ध रखने के कारण प्रतिक्षण विस्रस्त होता रहता है। यदि यह विसर्गभाव न हो तो पदार्थ कभी जीर्ण होता हुआ नष्ट ही न हो। सम्भूति के साथ विनाश का, उत्पत्ति के साथ लय का, स्थिति के साथ गति का, आदान के साथ विसर्ग का नित्य सम्बन्ध है। भौतिक पदार्थ घन–तरल–विरल भेद से तीन भागों में विभक्त हैं। संकेत भाषानुसार घन पदार्थ **हवि** नाम से, तरल पदार्थ **आज्य** नाम से, एवं विरल पदार्थ **सोम** नाम से व्यवहृत होते हैं। घन पदार्थों की मात्रा खाने वाले पितर "हविर्भुज" नाम से प्रसिद्ध हैं। तरल पदार्थों को खाने वाले पितर "आज्यपाः" नाम से व्यवहृत हुए हैं। विरल पदार्थों के भोक्ता पितर "सोमपाः" नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। यही तीनों कहीं-कहीं **हविष्मतः–आज्यवन्तः–सोमवन्तः** इन नामों से भी पुकारे गए है। हवि घन पदार्थ हैं, इसका पान नहीं होता, अपितु भोजन होता है। अतएव हवि खाने वाले पितरों को **हविर्भुजः** कहना ही उचित है। आज्य (घृत) एवं

※दिव्यपितरः—पराः
ऋतुपितरः—मध्यमाः
प्रेतपितरः—अवराः

सोम दोनों ही एक प्रकार से तरल हैं, अतः दोनों पान की सामग्री हैं, अतएव आज्य–सोमाहुति से सम्बन्ध रखने वाले दोनों को क्रमशः आज्यपाः–सोमपाः कहना अन्वर्थ होता है। अन्न खाना अग्नि का काम है, अतएव अग्नि को अन्नाद कहा जाता है। उक्त तीनों पितर त्रिविध अन्नों के भोक्ता होने से ही **अन्नादपितर** नाम से व्यवहृत किए जा सकते हैं। अन्नादाग्नि साक्षात् अङ्गिरा है। अतएव इनके लिए—**"अङ्गिरसो नः पितरः"** यह कहा जाता है।

—❀—
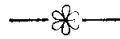
सुस्वधावा पितरः— तीसरी श्रेणि है अनुभय पितरों की। जो पितृप्राण न किसी को खाता है, एवं न किसी से खाया जाता है, जिसका एकमात्र काम पदार्थों में स्तम्भन भाव उत्पन्न करना है, वह **याम्यपितर ही अनुभयपितर** नाम से प्रसिद्ध है। यही अनुभय पितर **"सुकालाः"-"सुकालिनः"**-"सुस्वधावा" इत्यादि विविध नामों से तत्तद्विशेषस्थलों में व्यवहृत हुआ है।

सप्त दिव्य पितरः— इस प्रकार अन्न-अन्नाद-अनुभय भेद भिन्न तीन दिव्य पितरों की ३-३-१ इस क्रम से सात अवस्थाएँ हो जाती हैं। इन्हीं सातों पितरप्राणों से देवप्राण उत्पन्न होता है। देवप्राण के उत्पादक होने से ही इन्हें **दिव्यपितर** कहा जाता है। अपि च प्रकृतिमण्डल को ही **आधिदैविक जगत्** कहा जाता है। उक्त सातों पितर इसी जगत् के सञ्चालक हैं, इसलिए भी इन्हें दिव्यपितर कहना न्यायसंगत है। पूर्व की **"पितॄणांपितरविज्ञानोपनिषत्"** में हमने ऋषिप्राण को **"पितॄणांपितरः"** कहा है। ऋषि भेद से ही पितरप्राणों के भिन्न-भिन्न धर्म्म हो जाते हैं। अग्निष्वात्ता नाम के अन्न पितर भृगुऋषि से उत्पन्न होते हैं। बर्हिषत् नाम के अन्नपितर **अङ्गिरा ऋषि** से उत्पन्न होते हैं, एवं सोमसत् नाम अन्न पितर **अत्रिमहर्षि** से उत्पन्न होते हैं। समष्टिरूप से इन तीनों अन्नपितरों की प्रतिष्ठा भृगुऋषि ही है। हविर्भुक् नाम के अन्नाद पितर **पुलह ऋषिप्राण मिश्रित अङ्गिरा ऋषि** से उत्पन्न हुए हैं, आज्यपाः नाम के अन्नाद पितरों के उत्पादक **कर्द्दम प्राणगर्भितपुलस्त्यऋषि** हैं, **सोमपा** नाम के अन्नाद पितर **विराट् प्राणगर्भित भृगु ऋषि** से उत्पन्न हुए हैं। समष्टिरूप से इन तीनों अन्नाद पितरों की प्रतिष्ठा अङ्गिरा ऋषि ही है। शेष **सुकाली** नाम से अनुभय पितरों का उपादान **वसिष्ठप्राण** माना गया है। इस प्रकार समष्ट्यात्मक तीन दिव्यपितरों के उत्पादक **भृगु–अङ्गिरा–वसिष्ठ** ये तीन ऋषि हैं। व्यष्ट्यात्मक सात दिव्यपितरों के **भृगु[१]–अङ्गिरा[२]–अत्रि[३]–अङ्गिरा[४]–पुलस्त्य[५]–भृगु[६]–वसिष्ठ[७]** ये ऋषिप्राण उत्पादक बने हुए हैं, जैसा कि निम्नलिखित कोष्ठक से स्पष्ट हो जाता है—

प्राकृतिकाः—सप्त—दिव्यपितरः

१	१	अग्निष्वात्ताः (दक्षिणाः)	वैभ्राजाः विभ्राजमाना वा	अमूर्त्ताः	मध्यमाः	भृगवः	भार्गवाः	भृगुःप्रतिष्ठा	अन्न पितरः—३
२	२	बर्हिषदः (मध्यमाः)	सोमपथाः सोमपदा वा	अमूर्त्ताः	मध्यमाः	आङ्गिरसाः	आङ्गिरसाः	भृगुःप्रतिष्ठा	
३	३	सोमसदः (उत्तराः)	सनातनाः सन्तानका वा	अमूर्त्ताः	मध्यमाः	आत्रेयाः	आत्रेयाः	भृगुःप्रतिष्ठा	
४	१	हविर्भुजः*१	मारीचाः	मूर्त्तिमन्तः	पराः	आङ्गिरसाः पौलहा वा	आङ्गिरसाः	अङ्गिराप्रतिष्ठा	अन्नाद पितरः—३
५	२	आज्यपाः*२	तेजस्विनः	मूर्त्तिमन्तः	पराः	पौलस्त्याः कार्द्दमा वा	पौलस्त्याः	अङ्गिराप्रतिष्ठा	
६	३	सोमपाः*३	ज्योतिर्भासाः	मूर्त्तिमन्तः	पराः	काव्या वैराजा वा	काव्याः	अङ्गिराप्रतिष्ठा	
७	१	सुकालिनः*४	मानसाः	मूर्त्तिमन्तः	अवराः	वसिष्ठः	वसिष्ठः	वसिष्ठःप्रतिष्ठा	अनुभय पितरः—१

इस पिण्डपितृयज्ञादि श्रौतकर्म्मों में उपयुक्त होने वाले दिव्यपितर सात ही समझने चाहिएँ। साथ ही में यह समझ लेना चाहिए कि अग्नि—यम—सोम ये तीन तत्त्व ही अग्निष्वात्तादि सातों पितरों के देवता हैं। **अग्निष्वात्ता** का **अग्नि** से सम्बन्ध है। **सोमसदों** का सोम से सम्बन्ध है, एवं बर्हिषदों का **यम** से सम्बन्ध है। इसी प्रकार **हविर्भुजों** का **अग्नि से, सोमपा** पितरों का सोम से, एवं **आज्यपाओं** का **यम** से सम्बन्ध है। इन ६ओं पितरों का दिव्य विभूति से सम्बन्ध है। सातवाँ सुकाली पितर देवभूति से शून्य है। इसमें केवल पार्थिव **पूषाप्राण** की ही प्रधानता है अतएव सुकाली को **शूद्रपितर** कहा जाता है, जैसा कि आगे आने वाली **प्रेतपितरविज्ञानोपनिषत्** में स्पष्ट हो जायगा।

---

*१—ऐन्द्राणां क्षत्रियाणां पितरो हविर्भुजः।

*२—वैश्वदेवानां वैश्यानां पितरः आज्यपाः।

*३—आग्नेयानां ब्राह्मणानां पितरः सोमपाः।

*४—पौष्णानां शूद्राणां पितरः सुकालिनः।

आत्मब्रह्म की सप्तपुरुषता—

अग्नि–सोम–यम इन तीन देवताओं को हमने पितरों की प्रधानभित्ति माना है। सोम अन्न है, अग्नि अन्नाद है। अन्नादाग्नि के गर्भ में प्रविष्ट अन्नसोम अन्नाद से परिगृहीत होता हुआ "अत्तैवाख्यायते नाद्यम्" इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार अन्नाद ही रह जाता है। यम-वायु को हमने आङ्गिरस बतलाया है। अङ्गिरा की अवस्थाविशेष ही अग्नि है। ऐसी अवस्था में आङ्गिरस वायुरूप **यम** का अन्नादाग्नि में अन्तर्भाव मान लेने में कोई क्षति नहीं होती। इस प्रकार अग्नि–यम–सोम तीनों अग्नि से गृहीत माने जा सकते हैं। इस आङ्गिरस अग्नि की अग्नि-वायु-आदित्य ये तीन अवस्थाएँ हैं। तल्लोकों में प्रतिष्ठित ये तीनों देवता हैं। तीनों के साथ क्रमशः **वसु–रुद्र–आदित्य** देवताओं का सम्बन्ध है। वसुदेवता अग्निप्रमुख हैं, रुद्र देवता वायु प्रमुख हैं, आदित्य देवता आदित्य (इन्द्र) प्रमुख हैं। अग्नि की वसुरुद्र आदित्यावस्था ही पितरप्राण की देवता हैं। इन्हीं तीनों गणदेवताओं से पितरप्राण आप्यायित होता है, अतएव वसु–रुद्र–आदित्य को **श्राद्धदेवता** माना गया है, जैसा कि आगे के प्रकरणों में स्पष्ट हो जायगा।

पूर्व में हमने **अग्निष्वात्ता–बर्हिषत्–सोमसत्** इन तीनों पितरों के क्रमशः भृगु–अङ्गिरा–अत्रि ये तीन ऋषि बतलाए हैं। कहीं-कहीं अग्निष्वात्ता के ऋषि अथर्वा भी माने गए हैं। अथर्वा आङ्गिरस हैं। ऐसी स्थिति में अथर्वा का अङ्गिरा में ही अन्तर्भाव हो जाता है, फलतः तीन ही ऋषि रह जाते हैं।

हिरण्यगर्भ (केन्द्रस्थ मनोमय असुरतत्त्व) से मनु का विकास हुआ, मनु से पितर प्राण-प्रवर्त्तक **भृगु–अङ्गिरा–अत्रि–पुलस्त्य–पुलह–मरीचि–वसिष्ठ** ये सात ऋषिप्राण प्रादुर्भूत हुए। इनसे अग्निष्वात्तादि सात दिव्य पितर प्रादुर्भूत हुए। इन सातों से अस्मदादि प्रजावर्ग का विकास हुआ। इस सृष्टिधारा क्रम की अपेक्षा हम (प्रजा) **पुत्र**[१] हैं। अग्निष्वात्तादि सातों दिव्य **पितर पिता**[२] हैं। मरीच्यादि सातों ऋषि **पितामह**[३] हैं। मनु तत्व **प्रपितामह**[४] है। हिरण्यगर्भ प्रजापति **वृद्धप्रपितामह**[५] है। विशुद्ध अक्षर **अतिवृद्ध प्रपितामह**[६] है। सर्वमूलभूत अव्यय पुरुष **वृद्धातिवृद्धप्रपितामह**[७] **है**। **"सा काष्ठा सा परागतिः"** (कठोपनिषत् १।३।११)। इस प्रकार एक ही पुराणपुरुष सात अवस्थाओं में परिणत हो कर उक्त संतान क्रम का स्वरूप सम्पादक बन रहा है। एक अव्यय पुरुष की सपिण्डता सात धाराओं में वितत है— "सापिण्ड्यं साप्त पौरुषम्"।

१—अव्ययः— [१—षोडशीप्रजापतिः—पुराणपुरुष——→वृद्धातिवृद्धप्रपितामहः

२—अक्षरः— { २—विशुद्धः—अक्षर पुरुषः————→अतिवृद्ध प्रपितामहः
३—हृदयावाच्छिन्नास्त्रिकलोऽक्षरः——→वृद्धप्रपितामहः

१—पुत्राः
२—पितरः
३—ऋषयः
४—मनुः
५—हिरण्यगर्भः
६—अक्षरः
७—अव्ययः

३—क्षरः— { ४—हृदयावाच्छिन्नो मनोमयोभावः——→प्रपितामहः
५—हृदयादुत्थिताः सप्त प्राणः———→पितामहः
६—विभिन्न ऋषि प्राणयोगादुत्पन्ना सप्तसंसर्गजाः प्राणाः——→पिता
७—पार्थिवी प्रजा——————→पुत्रः }

विरोधाभास एवं तन्निराकरण— उपर्युक्त सप्त दिव्यपितरों के सम्बन्ध में एक विप्रतिपत्ति उठाई जा सकती है। वह यही है कि पुराण ने सात के स्थान में ८ दिव्यपितर माने हैं। जैसा कि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट हो जाता है—

कव्यवालोऽ[१]–नलः[२]–सोमो[३]–यमश्चै[४]–वार्य्यमास्तथा[५] ॥
अग्निष्वात्ता[६]–र्बाहिषदः[७] सोमपाः –पितृदेवताः ॥१॥

वैदिक दृष्टि के अनुसार इस संख्या में कोई विरोध नहीं है। कारण स्पष्ट है। कव्य, अग्नि का ही विशेषण है एवं यम, अर्य्यमा का विशेषण है। इस प्रकार कव्यवाट् एवं अर्य्यमा का क्रमशः अग्नि–यम–में अन्तर्भाव मान लेने से कोई आपत्ति नहीं होती। हाँ आपत्ति है "कव्यवालः" इस पाठ पर। यद्यपि निरुक्त परिभाषानुसार स्वर-द्वय मध्यस्थ डकार दुःस्पष्ट होता हुआ लकाररूप में परिणत हो सकता है। ऐसी अवस्था में कव्यवाड् का कव्यवाल् बनना यथाकथञ्चित् सम्भव है। परन्तु इसका अकारान्त हो जाना (कव्यवाल-बन जाना) सर्वथा—असंभव ही है। अस्तु प्रकृत में केवल यही कहना है कि कव्यवाट् किंवा कव्यवाल् का अग्नि में, एवं अर्य्यमा का यम में अन्तर्भाव हो जाता है, इस प्रकार पुराणमतानुसार ६ ही पितर रह जाते हैं, एवं श्रौत सिद्धान्त के अनुसार सुकाली को मिलाकर ७ पितर हो जाते हैं।

वैदिक तत्त्वों के आधार पर उपबृंहित पुराणशास्त्र का वास्तविक मर्म न समझते हुए कुछ एक अज्ञ महानुभावों ने पुराणपाठों को बिगाड़ कर उनमें मनमाना बना कर जो आर्य्य संस्कृति का विनाश किया है, वह उनका अक्षम्य अपराध है। ऐसे कुछ वचनों की ओर नीरक्षीर विवेकी पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है—

अग्निष्वात्ता बर्हिषद आज्यपाः सोमपाः स्मृताः।
रश्मिपा उपहूताश्च तथैवायन्तु नः ॥१॥
तथा स्वादु सदश्चान्ये स्मृता नान्दीमुखानृप।
एते पितृगणाः ख्यातास्ते च देवसमुद्भवाः ॥२॥
आदित्या वसवो रुद्रा नासत्यावश्विनावपि।
सन्तर्पयन्ति ते चैतान् मुक्त्वा नान्दीमुखान् पितॄन् ॥३॥

(स्कन्दपुराण—नागखण्ड)।

उक्त वचनों से पाठकों को पता लगेगा कि पुराण ने अग्निष्वात्तादि से अतिरिक्त रश्मिपाः–उपहूताः—आयन्तुनः–स्वादुषदः ये चार पितर बतलाए हैं। पुराणों के अन्य स्थलों में एवं श्रौत ग्रन्थों में कहीं भी उक्त चारों पितरों का उल्लेख नहीं मिलता। ऐसी अवस्था में उक्त वचनों को सिवाय प्रक्षिप्त मानने के अन्य गति नहीं है। उपहूताः एवं आयन्तुनः पितरों के कोई स्वतन्त्र नाम नहीं हैं अपितु **"उपहूताः पितरः सौम्यासः"** "आयन्तु नः पितरः सौम्यासः" (हमारे सौम्य पितर इस पिण्ड पितृयज्ञ में पधारें) इत्यादि मन्त्रों में अग्निष्वात्तादि शास्त्रसम्मत पितरों के आह्वान के लिए ही "उपहूताः-आयन्तु नः" ये पद प्रयुक्त हुए हैं। इसी प्रकार रश्मिपाः—स्वादुषदः नाम के भी कोई स्वतन्त्र पितर नहीं हैं अपितु ये भी पितरों के विशेषण ही हैं। अर्थानभिज्ञ संशोधकों ने उपहूताः आदि को भी स्वतन्त्र पितर मान कर शास्त्र का कैसा उपकार किया है? यह पाठक स्वयं विचार करें।

नन्दिपुराण में अग्निष्वात्ता, बर्हिषदः, काव्य, सुकाली, यम भेद से पाँच प्रकार के पितर माने गए हैं। इनमें हविर्भुक् ही यमपितर हैं। सुस्वधा आदि आज्यापादि पितरों के ही नामान्तर है। **हारीत-स्मृति** में निम्नलिखित रूप से पितरों का उल्लेख मिलता है—

सोमोयमोऽङ्गिराश्चैव सोमपा पितरस्तथा।
बर्हिषदोऽग्निष्वात्ताश्च हुतादः षड्विधोगणः ॥१॥

चन्द्रमा ऋतवश्चैव मृतं योऽग्निर्दहत्यपि।
सोपोपहूताः प्राक् सोमा अनीजानाश्च ब्राह्मणः ॥२॥

इनमें से चन्द्रमादि सोमानुबन्धी पितर हैं। ऋतादि का आज्यपा में अन्तर्भाव है। सुकाली पितर ही अनीजान पितर हैं। इस प्रकार पुराण स्मृत्यन्तरोक्त इतर पितरों का पूर्वप्रतिपादित ६ दिव्यपितरों में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

प्रकरणोपसंहार—

ज्योति–सोम–आपः इन तीनों तत्त्वों से क्रमशः **देवता–पितर–असुर** तत्त्वों का आविर्भाव होता है। ज्योति **इन्द्रतत्त्व** है, सोम **भृगुतत्त्व** है, आपः **वरुणतत्त्व** है। प्रकाश देवता है। घोर अन्धकार असुर है। छाया (प्रकाश एवं अन्धकार की सन्धि) पितर है। सौर प्रकाश **सावित्र** नाम से प्रसिद्ध है। जिसे आतप (धूप) कहा जाता है वही सावित्र दिव्य तेज है। इसमें इन्द्र प्रमुख देवप्राण प्रतिष्ठित रहता है, रात्रि में असुर प्राण का साम्राज्य है, किन्तु छाया में (जो कि छाया गायत्रतेज युक्त है) पितरप्राण प्रतिष्ठित रहता है। प्रतिफलित सौर तेज से ही गायत्री का स्वरूप सम्पन्न होता है। धूप नहीं है किन्तु प्रकाश है, यह सूर्य्यरश्मियों के प्रतिफलन की ही महिमा है। इसी छायामय प्रकाश को गायत्री कहा जाता है क्योंकि इसी में पितरप्राण प्रतिष्ठित है, अतएव पितृकर्म्म में गायत्री देवता को प्रधानता दी जाती है, इसीलिए पितृकर्म्म में दोने औंधे कर दिए जाते

हैं। भूपिण्ड का प्रकाशयुक्त दृश्यभाग देवप्राणयुक्त है, अधोभाग असुरमय है, परन्तु यदि कहीं गर्त्त है तो उसमें रहने वाला प्राण पितर है। पितर के इन्हीं स्वरूपधर्म्मों को लक्ष्य में रख कर निम्नलिखित श्रौत-वचन हमारे सामने आते हैं—

१—**"तत्तमसः पितृलोकादादित्यं ज्योतिरभ्यायन्ति"** (शत० १३।८।४।७)।

२—**"तिर इव वै पितरः"** (शत० २।६।१।१६)।

३—**"अपक्षय भाजो वै पितरः"** (कौ० ५।६)।

४—**"पितृदेवत्यो वै कूपः खातः"** (शत० ३।६।१।१३)।

५—**"पराञ्च उ वै पितरः"** (कौ० ५।६)।

इति पितरविज्ञानोपनिषदि दिव्यपितरविज्ञानोपषित् समाप्ता

अथ

पितरस्वरूपविज्ञानोपनिषदि

ऋतुपितरविज्ञानोपनिषत्

चतुर्थी

[४]

पितर शब्द का सामान्य अर्थ है, **पदार्थों को उत्पन्न कर उनका पालन (रक्षण) करना।** इस सामान्य परिभाषा के अनुसार ऋतुओं को भी पितर माना जा सकता है। तत्तदृतुओं में तत्तदृतुओं से ही तत्तत् पदार्थ उत्पन्न होते हैं। जिस पदार्थ की ऋतु (मौसम) नहीं होती, वह उस समय उत्पन्न नहीं होता। षड्ऋतुसमष्टि ही संवत्सर है, ऋतुमूर्त्ति संवत्सर ही पार्थिव पदार्थों का जनयिता है अतएव संवत्सर को **प्रजापति** कहा जाता है। इस प्रकरण में ऋतुलक्षण पितर का ही स्वरूप बतलाया जायगा। **ऋतुपितर का क्या स्वरूप है ?** इस प्रश्न के समाधान से पहिले ऋतु का स्वरूप वेदप्रेमियों के सम्मुख उपस्थित किया जाता है।

ऋतुपितरस्वरूप जिज्ञासा—

"पितॄणांपितर" का स्वरूप बतलाते हुए उसी प्रकरण में अग्नि और सोम की ऋत-सत्य भेद से दो-दो अवस्थाएँ बतलाई गई हैं। साथ ही में वहीं यह भी कहा गया है कि ऋतसोम वायुरूप है, इसकी सत्ता उत्तर में है अतएव उत्तर को **सौम्यादिक्** कहा जाता है। ऋताग्नि वायुरूप है, इसकी सत्ता दक्षिण में है, अतएव दक्षिण को **याम्यादिक्** कहा जाता है। उधर सत्यसोम प्रत्यक्षदृष्ट चन्द्रपिण्डात्मक है, यह अपनी मूल प्रतिष्ठा पश्चिम में रखता है। सत्याग्नि प्रत्यक्षदृष्ट सूर्य्य पिण्डात्मक है, यह पूर्वादिक् में प्रतिष्ठित है।

दिग्विभाग प्रदर्शन—

हमारी ऋतु का सम्बन्ध ऋतअग्नि एवं ऋतसोम के साथ समझना चाहिए। दक्षिण से उत्तर की ओर प्रवाहरूप से जाने वाले योनिस्वरूप वायव्य ऋताग्नि में उत्तर से दक्षिण की ओर प्रवाह रूप में जाने वाला रेतःस्वरूप वायव्य ऋतसोम निरन्तर आहुत होता रहता है। इस ऋताग्निसोम के समन्वय से जो एक अपूर्व भाव उत्पन्न होता है वही ऋतअग्नि एवं ऋतसोम के सम्बन्ध से **ऋतु** नाम से व्यवहृत होता है। दक्षिणाक्रीत **होता-अध्वर्यु-उद्गाता-ब्रह्मा** नाम से प्रसिद्ध यज्ञकर्त्ता ऋताग्नि में ऋतसोम की आहुति देकर ही यज्ञात्मा सम्पन्न करते हैं अतएव (ऋतुसम्बन्ध से ही) इन्हें ऋत्विक् नाम से व्यवहृत किया जाता है।

ऋतु और ऋत्विक्—

१—२—सत्याग्निः (सायतनाग्निः)——→सूर्य्यपिण्डात्मकः सूर्य्यमूर्त्तिः ——→पूर्वादिक्

२—२—सत्यसोमः (सायतनसोमः)——→चन्द्रपिण्डात्मकश्चतुर्मूर्त्तिः———→पश्चिमादिक्

३—१—ऋताग्निः (निरायतनाग्निः)→वायव्योवायुमूर्त्तिः————————→दक्षिणादिक्

४—२—ऋतसोमः (निरायतनसोमः)→वायव्योवायुमूर्त्तिः—————————→उत्तरादिक्
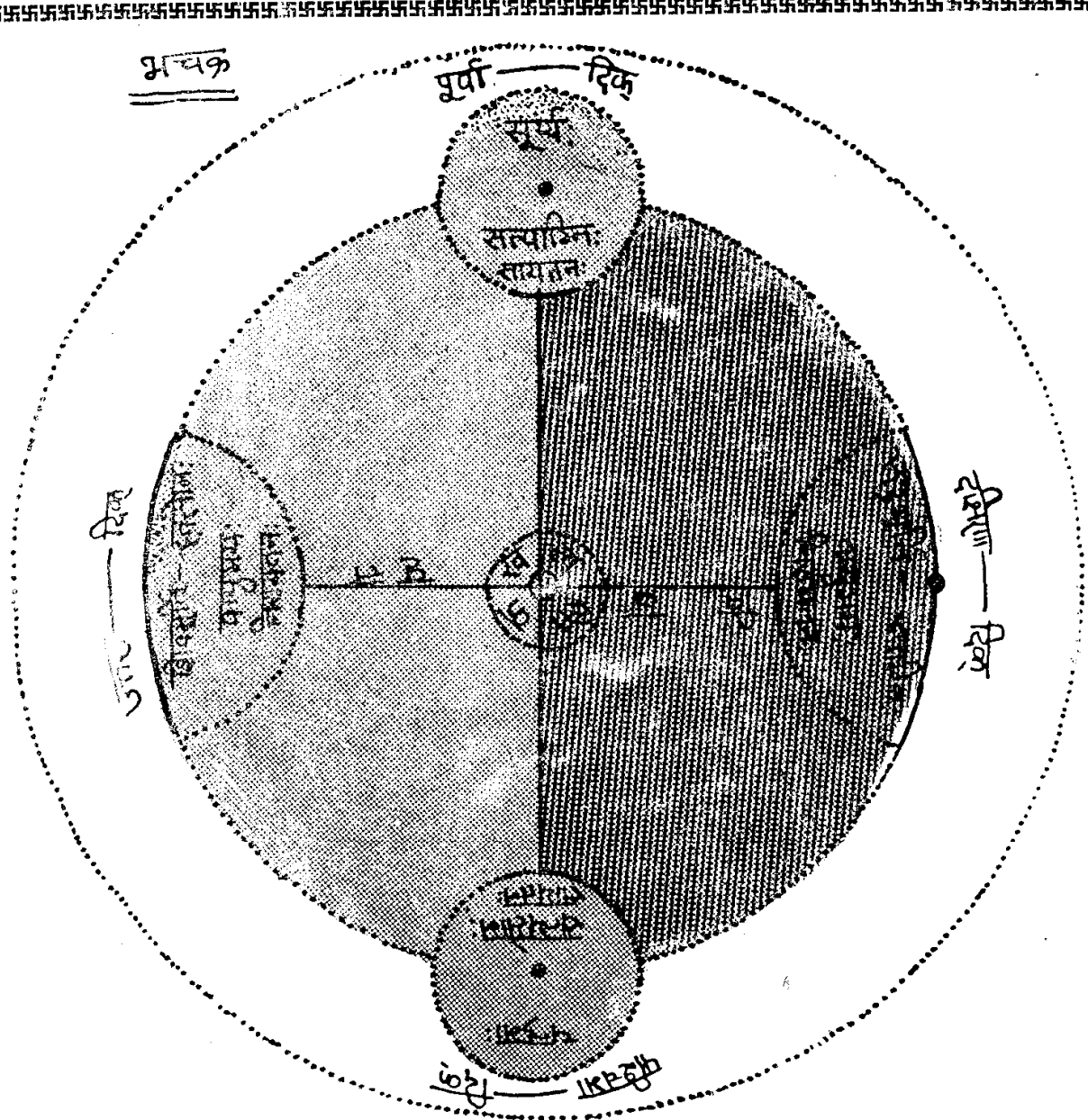
उपर्युक्त ऋताग्नि ही यज्ञस्वरूपसमर्पक होता हुआ **यज्ञाग्नि** नाम से प्रसिद्ध है। इस ऋताग्नि रूप की **गायत्राग्नि–सावित्राग्नि–नाक्षत्रिकाग्नि** भेद से तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं। इनमें तीसरे नाक्षत्रिकाग्नि की (आन्तरिक्ष्य आठ नाक्षत्रिक सर्पों के कारण) अवान्तर आठ अवस्थाएँ हो जाती हैं। इस प्रकार **तीन** के स्थान में अग्नि की **दस** अवस्थाएँ हो जाती हैं। याज्ञिक परिभाषा के अनुसार ये ही तीनों अवस्थाएँ क्रमशः **गार्हपत्याग्नि–आहवनीयाग्नि–धिष्ण्याग्नि** नाम से प्रसिद्ध हैं। हम कह चुके हैं कि ऋतु से ही संवत्सर यज्ञ का स्वरूप निर्माण होता है। ऋताग्नि सोमात्मक यह संवत्सरयज्ञ विभूति सम्बन्ध से सम्पूर्ण त्रैलोक्य (स्तौम्य त्रैलोक्य) में व्याप्त है। **त्रिवृत्पञ्चदश–एकविंशस्तोमरूप पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ** इन तीनों लोकों में ऋताग्नि वायुरूप से व्याप्त है। त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न प्रातः सवनाधिष्ठाता पार्थिव अग्नि गायत्र (गार्हपत्य) है। पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न, माध्यंदिनसवनाधिष्ठाता आन्तरिक्ष्याग्नि (वायु) नक्षत्र सम्बन्ध से नाक्षत्रिक (धिष्ण्य) नाम से प्रसिद्ध है, एवं एकविंशस्तोमावच्छिन्न, सायंसवनाधिष्ठाता दिव्य-लोकस्थ अग्नि (आदित्य) सविता प्राण के सम्बन्ध से सावित्र (आहवनीय) नाम से प्रसिद्ध है।

दशविध अग्निविवर्त्त—

पूर्वोक्त दशविध ऋताग्नि में आहुत होने वाला सोम त्रिंशद्विध (३० प्रकार का) है। **१—दिक् सोम,** १—ब्रह्मणस्पति सोम, **१—चन्द्रसोम (भास्वरसोम),** २७—गन्धर्व सोम भेद से एक ही सोमतत्त्व ३० अवस्थाओं में परिणत हो जाता है। दशविध अग्नि, एवं त्रिंशद्विध सोम दोनों का **आवपन***वायु है। वायु सम्बन्ध से ही इन दोनों को ऋत कहा गया है। उक्त तीनों अग्नियों में से पार्थिव गायत्राग्नि का दिक्सोम के साथ सम्बन्ध है एवं नाक्षत्रिक आन्तरिक्ष्य धिष्ण्याग्नि का गन्धर्वसोम के साथ सम्बन्ध है। चन्द्रसोम का नाक्षत्रिक अग्नि के साथ भी सम्बन्ध है एवं औषधिरूप से पार्थिव अग्नि के साथ भी सम्बन्ध है—

त्रिंशद्विधसोमतत्त्व—

१—गायत्राग्निः—एकविधः—पार्थिवः——→दिक्सोमेन, चन्द्रसोमेन च सम्बद्धः।

२—नाक्षात्रिकाग्निः—अष्टविधः—आन्तरिक्ष्यः——→गन्धर्वसोमेन, चन्द्रसोमेन च सम्बन्धः।

३—सावित्राग्निः—एकविधः—दिव्यः—ब्रह्मणस्पति सोमेन सम्बन्धः।

इन त्रिविध युग्मों में से गायत्राग्नि और दिक्सोम का युग्म सदा एकरूप रहता है। सदा-सर्वत्र दोनों समभाव से व्याप्त रहते हैं। अतएव इन दोनों से पदार्थों में कोई विशेष तारतम्य उत्पन्न नहीं होता। धिष्ण्याग्नि एवं गन्धर्व सोम का युग्म सदा विभिन्न मार्ग का ही अनुसरण करता रहता है। अतएव प्रतिसंवत्सर में इन दोनों अग्नि-सोमों के तारतम्य

प्रयोजिका धर्म्मत्रयी—

*सर्वतः आधार को आवपन कहा जाता है, एवं एकतः आधार को आयतन कहा जाता है। उदाहरण के लिए पृथिवी हमारा आयतन है, आकाश आवपन है। वायुतत्त्व अग्निसोम के चारों ओर से वेष्टित रहता है, अतएव इस वायु को हम अवश्य ही आवपन शब्द से व्यवहृत कर सकते हैं।

से प्रतिक्षण पदार्थों में वैलक्षण्य उत्पन्न हुआ करता है। प्रातःकाल हमारा मन दूसरी भावना से युक्त रहता है, मध्याह्न में चित्तवृति भिन्न प्रकार की ही रहती है, सायंकाल मानसवृत्तियों का और ही स्वरूप रहता है, रात्रि की अवस्था कुछ और ही है। यह है स्थूल अनुमान। यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाता है तो हमें मानना पड़ेगा कि उक्त मानस वृत्तियों का भावपरिवर्तन क्षण-क्षण में परिवर्तित होता रहता है। इसीलिए तो पदार्थों में (जड़-चेतनात्मक उभयविध पदार्थों में) प्रतिक्षण विलक्षणता का उदय होता है। यह धिष्ण्याग्नि एवं गन्धर्वसोम युक्त चान्द्रसोम के तारतम्य का ही फल है। शेष रहता है—सावित्राग्नि, एवं ब्रह्मणस्पति सोम। इन तीनों का उद्ग्राभ (चढ़ाव) निग्राभ (उतार) अहोरात्र (दिनरात) से सम्बन्ध रखता है। अहःकाल में सावित्राग्नि का उद्ग्राभ रहता है, रात्रिकाल में सावित्राग्नि का अपचय (ह्रास) रहता है। रात्रिकाल में ब्रह्मणस्पति सोम का उपचय (वृद्धि) रहता है, दिन में इसका अपचय रहता है। इस प्रकार इन तीन युग्मों से पदार्थों में **१—सर्वदासमानस्थिति, २—प्रतिक्षण-परिवर्तन, ३—अहोरात्र में उपचयापचय**, यह धर्म उत्पन्न हो जाते हैं। पदार्थों में जो एक अपरिवर्तनीय भाव देखा जाता है, वह एक स्थिर धर्म्म है, इसका प्रयोजक दिक्चान्द्रसोमगर्भित पार्थिव अग्नि है। पार्थिव अग्नि घनावस्थापन्न है, अतएव आकर्षणबल प्रधान है। इसी गुरुत्व से स्थिर धर्म्म का उदय होता है। गन्धर्व-चान्द्रसोमगर्भित आन्तरिक्ष्य नाक्षत्रिक अग्नि तरल होता हुआ वायुरूप है। वायुतत्त्व सदागति है, प्रतिक्षण विचाली है। अतः इसके सम्बन्ध में प्रतिक्षण विलक्षणता का उदय होना स्वाभाविक है। सावित्राग्नि अहोरात्र से सम्बन्ध रखता है। फलतः दिन रात में होने वाले उपचयापचय भाव का इस युग्म के साथ सम्बन्ध हो जाना स्वाभाविक कोटि में आ जाता है।

१—गायत्राग्नियुक्तो दिक्सोमः——→स्थिरधर्मप्रयोजकः——→पार्थिवः

२—धिष्ण्याग्नियुक्तोगंधर्वसोमश्चन्द्रादयः——→प्रतिक्षणवैलक्षण्य प्रयोजकः——→आन्तरिक्ष्यः

३—सावित्राग्नि युक्तो ब्रह्मणस्पतिसोमः——→अहोरात्रजिउपचयापचय भा.प्र.——→दिव्यः

—※—

ऋतुसर्ग मीमांसा—

यह तो हुई सामान्य तारतम्य की कथा। अब विशेष तारतम्य पर दृष्टि डालिए। "**पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते**" इत्यादि रूप से उपवर्णित, अम्भः नाम के तोय का प्रवर्त्तक पवित्र सोम पारमेष्ठ्य है। सूर्य्यमण्डल से ऊपर **तृतीय** नाम से प्रसिद्ध परमेष्ठी मण्डल में इसकी सत्ता है। वहाँ से यह पवित्र ब्रह्मणस्पति सोम सावित्राग्निमय सूर्य्य में निरन्तर आहुत होता रहता है। अग्निसोमात्मक इसी नित्य अग्निहोत्र के लिए—"**सूर्य्य हि वा अग्निहोत्रम्**" (शतपथ) यह कहा जाता है। सूर्य्य के चारों ओर क्रान्तिवृत्त नाम से प्रसिद्ध नियत मार्ग पर भूपिण्ड परिक्रमा लगाया करता है। इस परिक्रमा से सूर्य्य में—**दक्षिणायन–उत्तरायण** भेद से दो भाव उत्पन्न हो जाते हैं। जब भूपिण्ड उत्तरगोल में आता है तो सूर्य्य पृथिवी के अधोभाग में दिखलाई देने लगता है, एवं जब पृथिवी दक्षिणगोल में आती है तो सूर्य्य पृथिवी के ऊर्ध्वभाग में दिखलाई पड़ता

है। दक्षिणगोलस्थ सूर्य्योपलक्षित संवत्सर भाग में पृथिवी सूर्य्य के ऊपर रहती है। ऐसी परिस्थिति में पृथिवी परमेष्ठीमण्डल के निकट रहती है, सोममात्रा अधिक मात्रा से पृथिवी पर आती है, यही शीत ऋतु है। परन्तु जब पृथिवी उत्तरभाग में आ जाती है तो यह परमेष्ठी से बहुत दूर हट जाती है, ऐसे समय में पृथिवी पर सोममात्रा अत्यल्प मात्रा में आती है, यही ग्रीष्म ऋतु है। यह सांवत्सरिकतारतम्य, किंवा शीत–ग्रीष्म–तारतम्य सावित्राग्नि, एवं ब्रह्मणस्पति सोम से सम्बन्ध रखता है।

गन्धर्वसोम नक्षत्र भेद से भिन्न-भिन्न स्वरूप धारण कर लेता है। अतएव नक्षत्र सम्बन्धी **आश्विन–कार्त्तिकादि** तत्तन्मासों में तत्तन्नक्षत्रों के सामीप्य एवं विदूर भाव से सोमाग्नि का तारतम्य हुआ करता है। जिस नक्षत्र पर पृथिवी रहती है, वह उस महीने की पूर्णिमा है। वह महिना उसी नक्षत्र के नाम से व्यवहृत होता है। नक्षत्र सन्निधिकालात्मिका पूर्णिमा तिथि में धिष्ण्यअग्नि की प्रधानता रहती है, एवं अमावस्या तिथि में चन्द्रसोम गर्भित गन्धर्व सोम का साम्राज्य रहता है। इस प्रकार पूर्णिमा-अमा भेद से प्रत्येक मास में अग्नि-सोम का तारतम्य दो अवस्थाओं में परिणत रहता है। आगे जा कर चन्द्रसोम की अपेक्षा से प्रतिपक्ष में अग्नि-सोम का तारतम्य हो जाता है। अन्ततोगत्वा यह तारतम्य प्रतिक्षण में भुक्त हो जाता है। पहिला क्षण ऋताग्निप्रधान है तो दूसरा क्षण ऋतसोमप्रधान है। इस निदर्शन से यह सिद्ध हो जाता है कि सब ऋतुओं में सब ऋतुओं का, दूसरे शब्दों में प्रत्येक ऋतु में इतर सब ऋतुओं का स्वरूप अनुप्रविष्ट रहता है। महाकालपुरुषात्मक संवत्सर ऋतुमूर्त्ति है। उत्तरायण दक्षिणायन भाग सर्वर्त्तुमूर्त्ति हैं। मास–पक्ष–अहोरात्र–मुहूर्त्त–घटिका–होरा–क्षण प्रत्येक सर्वर्त्तुमूर्त्ति हैं। ऋतु के इसी व्यापक स्वरूप को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

"ऋतवो वा असृज्यन्त। ते सृष्टा नानैवासन्। तेऽब्रुवन् न वा इत्थं सन्तः शक्ष्यामः प्रजनयितुम्। रूपैः समायामेति। त एकैकमृतुरूपैः समायन्। तस्मादेकैकस्मिन् ऋतौ सर्वेषां ऋतूनां रूपम्" (शत० ८।४।२।४)।

इस प्रकार उक्त कथन से यद्यपि प्रत्येक क्षण में सब ऋतुओं का भाग सिद्ध हो जाता है, तथापि **ऋतु सम्बन्धी राशि-चक्र**— जैसे सूक्ष्मान्तर दशा में भी उपयुक्त होने वाली ग्रहदशाओं का आयु-रूप से स्थूल-दशा-विभाग माना जाता है, एवमेव ऋतुओं की भी वसन्त–ग्रीष्मादिरूप से स्थूल व्यवस्था मानना आवश्यक हो जाता है।

त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्ना पृथिवी एवं एकविंशस्तोमावच्छिन्ना द्यौ के संयोगजनित तारतम्य की अपेक्षा से ही वसन्तादि ६ विभाग उत्पन्न होते हैं। एक संवत्सर मण्डल में (जो कि ज्योतिश्चक्र परिभाषानुसार खगोल नाम से प्रसिद्ध है) १—मेष, २—वृष, ३—मिथुन, ४—कर्क, ५—सिंह, ६—कन्या, ७—तुला, ८—वृश्चिक, ९—धनु, १०—मकर, ११—कुम्भ, १२—मीन इन १२ राशियों की सत्ता मानी जाती है। खगोलीय (क्रान्तिवृत्तावच्छिन्नसंध्याकाशस्थ) सम्पूर्ण नक्षत्रों को १२ विभागों में कल्पित मान कर तत्तद्विभागावच्छिन्न तत्तन्नक्षत्रराशि (समूह) की मेष, (भेड़), वृष (बैल) आदि काल्पनिक चित्रों की

कल्पना की गई। मेषवृषादि अनेक नक्षत्रों के स्तूप रूप हैं, अतएव इस विभाग को राशि शब्द से व्यवहृत करना न्यायसङ्गत होता है। इन १२ राशियों के साथ २७ नक्षत्रों का भोग होता है ६–६–६ इस क्रम से क्रमशः ४–४–४ इन राशियों का विभाजन हुआ है। २७ नक्षत्रावच्छिन्न १२ राशियों में से दो-दो राशियों के साथ एक-एक ऋतु का भोग माना जाता है। भगवान् अंशुमाली दक्षिणगोल के परमक्रान्तिरूप **मकरवृत्त** (जो कि मकरवृत्त विज्ञान भाषा में गायत्रीछन्द नाम से प्रसिद्ध है) पर पहुँच कर जब उत्तर की ओर अपना रुख करते हैं तो यह काल उत्तरायण नाम से व्यवहृत किया जाता है। इस उत्तरायण काल में सात अहोरात्र वृत्तों में से मध्यस्थ विष्वद्वृत्त के दोनों ओर (उत्तर–दक्षिण) ३०–३० अंश का (सम्भूय ६० अंश का) जो संवत्सर का अंशभूत काल परिमाण है, वही [१] **वसन्त** नाम से प्रसिद्ध है। प्रत्येक राशि ३० अंश की होती है। ऐसी दशा में एक ऋतु में ६० अंश के हिसाब से २ राशियों का भोग सिद्ध हो जाता है। इस षष्ट्यंशात्मक वसन्त के आगे विषुवत् से उत्तर की ओर का षष्ट्यंशात्मक (६०) काल [२] **ग्रीष्म** है। वसन्त के दक्षिण भाग की ओर षष्ट्यंशात्मक काल (६०) [३] **वर्षा** है। ग्रीष्म के उत्तर भाग की ओर का षष्ट्यंशात्मक काल [४] **शरत्** है। वर्षा के दक्षिण भाग की ओर का षष्ट्यंशात्मक (६०) काल [५] **हेमन्त** है। शरत् के सर्वान्त की ओर के उत्तर भाग में षष्ट्यंशात्मक (६०) काल [६] **शिशिर** है। इस प्रकार विषुवत् को मध्य मान कर [१] **मध्य**, [२] **उत्तर**, [३] **दक्षिण**, [४] **उत्तर**, [५] **दक्षिण**, [६] **उत्तर** इस क्रम से १२ राशियों में ६ ऋतुएँ विभक्त हो जाती हैं।

यज्ञानुगत पञ्चर्त्तु विभाग— षड्ऋतु विभाग के अतिरिक्त ब्राह्मणग्रन्थों में पञ्चर्त्तुविभाग को भी महत्त्व दिया गया है। यही नहीं, यज्ञकर्म्म में तो प्रायः पञ्चर्त्तु पक्ष को ही प्रधान माना है। इन पाँच ऋतुओं का अभिप्लव स्तोम के साथ सम्बन्ध है। अभिप्लव स्तोम का प्रकृत में निरूपण नहीं किया जा सकता। यहाँ केवल यही समझ लेना पर्य्याप्त होगा कि उत्तरगोल में जिस दिन दक्षिणायन काल का प्रवेश होता है, उस दिन से आरम्भ कर ७२ दिन का काल खण्ड किंवा संवत्सरखण्ड **वर्षा** है। आगे इसी क्रम से काल खण्ड ७२-७२ क्रम से **शरत्-हेमन्त-शिशिर-वसन्त–ग्रीष्म** ऋतुओं में विभक्त हैं। इस पञ्चर्त्तु पक्ष में "हेमन्त शिशिरयोः समासेन" इस श्रौतसिद्धान्त के अनुसार हेमन्त एवं शिशिर दोनों को एक ऋतु मान लिया जाता है। मध्य में [१] **वर्षा** है। इसके एक ओर [२] **वसन्त**–[३] **ग्रीष्म** ये दो अग्निप्रधान ऋतुएँ हैं, एक ओर [४] **शरत्**–[५] **हेमन्तयुक्ता शिशिर** दो सोमप्रधान ऋतुएँ हैं। मध्य की वर्षा में अग्नि-सोम दोनों की समानता है अतएव इस ऋतु को वर्षा (वर्षोपलक्षितपूर्ण) ऋतु माना जाता है। जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। इस प्रकार पाँचों ऋतुओं के $\frac{७२}{१}$—$\frac{७२}{२}$—$\frac{७२}{३}$—$\frac{७२}{४}$—$\frac{७२}{५}$ इन पाँच द्वासप्ततियों का यदि संकलन किया जाता है—तो ३६० (तीन सौ साठ)

अहोरात्र हो जाते हैं। यही एक संवत्सर का भोगकाल है। ऋतुओं का यह पञ्चविभाग अति पुरातन है। इसी आधार पर हमारे **मरुधर** प्रान्त (मारवाड़) में "पून्यू पड़वा टाळै तो दिन बहत्तर गाळै" (अर्थात् यदि ज्येष्ठ शुक्ला पूर्णिमा, एवं आषाढ कृष्णा प्रतिपत् इन दो दिनों में वर्षा नहीं होती है तो पूरे बहत्तर दिन तक पूर्ण वृष्टि होती है, यह किंवदन्ती प्रचलित है। प्रत्येक ऋतु में ७२–७२ दिन हैं। इस ७२ दिवसात्मक ऋतु में **प्रस्ताव–उद्गीथ–निधन** नाम से तीन-तीन **सामों** का उपभोग होता है। इन तीन सामों के कारण ७२ दिन के क्रमशः १६–४०–१६ ये तीन विभाग हो जाते हैं। प्रस्ताव साम स्थानीय आरम्भ के १६ दिन तत्तत् ऋतु का **प्रातः सवन काल** है। यह तत्तत् ऋतु की **बाल्यावस्था** है। यही प्रस्ताव नाम के साम का उपभोग होता है। उद्गीथ साम मध्य के ४० दिन तत्तत् ऋतु का **माध्यंदिन सवन काल** होता है। यह तत्तत् ऋतु की युवावस्था है। यहाँ तत्तत् ऋतु का पूर्ण विकास रहता है। यहीं उद्गीथ नाम के साम रस का उपभोग होता है। उद्गीथ ही सामों का परम रस कहा जाता है। (द्रष्टव्य छान्दोग्य उपनिषद् हिन्दी विज्ञान भाष्य)। निधन साम स्थानीय उत्तर के १६ दिन तत्तत् ऋतु का **सायंसवन काल** है। यह तत्तत् ऋतु की **वृद्धावस्था** है। यहीं निधन नाम के साम का उपभोग होता है। बाल्य–युवा–वृद्धावस्थापन्न प्रत्येक ऋतु उक्त प्रकार से १६–४०–१६ भागों में विभक्त रहती हुई ७२ दिन तक अपनी जीवनसत्ता रखती है♁।

षड्ऋतु स्वरूप प्रदर्शन—

प्रकारान्तर से विचार करिए। अग्नि-सोम सम्बन्ध से आपको **शीतर्त्तु** एवं **उष्णर्त्तु** इन दो ऋतुओं की ही प्रधानता मिलेगी। इन दोनों में अग्नि की तीन अवस्थाओं का नाम **वसन्त–ग्रीष्म–वर्षा** है, एवं सोम की अवान्तर तीन अवस्थाएँ क्रमशः **शरत्–हेमन्त–शिशिर** इन तीन भागों में विभक्त हैं। वसन्त अग्नि की बालावस्था है, ग्रीष्म अग्नि की युवावस्था है वर्षा अग्नि की वृद्धावस्था है। एवमेव शरत् सोम की बाल्यावस्था है, हेमन्त युवावस्था है, शिशिर वृद्धावस्था है। इस प्रकार छः ऋतुओं का उक्त दो ऋतुओं में भी अन्तर्भाव हो जाता है। इसी स्थिति में आप यों भी देख सकते हैं कि चैत्र–वैसाख–ज्येष्ठ–आषाढ ये चार मास ग्रीष्मर्त्तु हैं। **श्रावण** एवं **भाद्रपद** ये दो महीने शीतर्त्तु की सन्धि हैं। **आश्विन–कार्त्तिक–मार्गशीर्ष–पौष** ये चार मास शीतर्त्तु हैं। **माघ** एवं **फाल्गुण** ग्रीष्मर्त्तु की सन्धि है, अतएव माघ शुक्ल पञ्चमी को ही ग्रीष्म के उपक्रम रूप वसन्त का आरम्भ दिन मान लिया जाता है। यही दोनों काल **शीतकाल–उष्णकाल** नाम से प्रसिद्ध हैं। ये ही दोनों शब्द निरुक्त क्रमानुसार प्रान्तीय भाषा (मारवाड़ी) शीतकालू-उष्णकालू रूप में परिणत होते हुए कमशः **श्यालू** (शीतकालू–शीतकाल) एवं **उन्हालू** (उष्णकालू–उष्णकाल) इन स्वरूपों में परिणत हो गए हैं।

चार-चार मास की एक-एक ऋतु के हिसाब से संवत्सर की तीन ऋतुएँ मानना भी श्रुतिसम्मत पक्ष है। चार मास ग्रीष्म के, चार मास वर्षा के, चार मास शीत के, इस प्रकार तीन ऋतुएँ भी स्वभाव-

---

♁इस विभाग के अनुसार **वसन्त** ऋतुओं में पहली ऋतु है एवं हेमन्त अन्तिम ऋतु मानी गई है। छठी शिशिर ऋतु का हेमन्त में ही अन्तर्भाव है। इसी अर्थ का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है— **"मुखं वा एतदृतूनां यद् वसन्तः"** (तै०ब्रा० १।१।२।६)—"अन्त ऋतूनां हेमन्तः" (शत० १।३।१३)।

सिद्ध हैं। ग्रीष्म में अग्नि का साम्राज्य है। शीत में सोम का आधिपत्य है। मध्य की वर्षा में दोनों का समन्वय है, जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है। इसी आधार पर वर्षा को **सर्वर्त्तु** कहा जाता है—**"वर्षा हि सर्व ऋतवः"**। यही कारण है कि जो वर्ष शब्द संवत्सर रूप षड्ऋतु समष्टि के लिए प्रयुक्त हुआ है, वही वर्ष शब्द इस ऋतु से भी सम्बद्ध माना गया है। इसी आधार पर संगीतज्ञ वर्षा में सब ऋतुओं के गायन का विधान करते हैं। इसी प्रकार मलिम्लुच मास के समन्वय से एक संवत्सर की ७ ऋतुएँ भी मानना न्यायसङ्गत है। इस तरह ६–३–२–७–५ आदि भेद से अपेक्षया ऋतुओं के अनेक विभाग हो जाते हैं। इन्हीं ऋतु विभागों को लक्ष्य में रख कर निम्नलिखित श्रुतिएँ हमारे सामने आती हैं—

१—**"त्रयो वा ऋतवः संवत्सरस्य"** (शत० ३।४।४।१७)।
२—**"विंशतिशतं (१२०) वा ऋतोरहानि"** (कौ० ११।७)।
३—**"पञ्चवाऽऋतवः सम्वत्सरस्य"** (शत० ३।१।४।५)।
४—**"पञ्चर्त्तवो हेमन्तशिशिरयो समासेन"** (ऐब्रा० १।१)।
५—**"षड्वा ऋतवः संवत्सरस्य"** (शत० १।२।५।१२)।
६—**"सप्तर्त्तवः सम्वत्सरस्य"** (शत० ६।६।१।१४)।

उद्ग्राभ निग्राभ—

पूर्व प्रतिपादित ऋतुभेद दिग्दर्शन से प्रकृत में हमें केवल यही कहना है कि ऋतुओं के विविध स्वरूप अग्निसोम के उद्ग्राभ-निग्राभ लक्षण तारतम्य से ही निष्पन्न होते हैं। उदाहरण के लिए षड्ऋतु स्वरूप पर ही दृष्टि डालिए। एक अहोरात्र में २४ होरा हैं। पूर्व में हमने अहोरात्र में सावित्राग्नि का उपचयापचय बतलाया है। इन २४ होराओं में दिन के १२ होरा में से १० होरा में सावित्राग्नि के अंशों का उपचय (आवाप) होता है, एवं रात्रि के १२ होरा में से १० होरा में सावित्राग्नि के अंशों का अपचय (उद्वाप) होता है। शेष के अहोरात्र के ४ होरा में रहने वाले सावित्राग्नि एवं गायत्राग्नि की पूरी मात्रा शिशिर ऋतु में शीर्ण हो जाती है अतएव अग्निमात्रा से सर्वथा शीर्ण यह काल **"पुनः पुनरतिशयेन शीर्णा भवन्ति यस्मिन् कालेऽग्निकरणः स कालो शिशिरः"** इस लक्षण के अनुसार **शिशिर**१ नाम से प्रसिद्ध हो जाता है। इसके अनन्तर पूर्व प्रदर्शित क्रमानुसार उत्तर के ६० अंशों से युक्त सावित्राग्नि के अंश क्रमशः वायु में व्याप्त होने लगते हैं अतएव अग्निकणनिवासोपलक्षित यह काल "यस्मिन्कालेऽग्निकणाः पदार्थेषु वसन्तो भवन्ति स कालो **वसन्तः**"२ इस निर्वचन के अनुसार **वसन्त** नाम से व्यवहृत होता है। आगे के ६० अंशों से युक्त वायुधरातल में व्याप्त अग्नि आगे जा कर प्रवृद्ध होता हुआ विशेष रूप से पार्थिव पदार्थों को पकड़ता है अतएव प्रवृद्धाग्न्यवच्छिन्न यह काल—

१—बार-बार अतिमात्रा से अग्निकण जिस काल में सर्वथा शीर्ण हो जाते हैं, वही काल किंवा कालोपलक्षित ऋतु **"शिशिर"** कहलाती है।

२—जिस काल में अग्निकण पदार्थों में बसने लगते हैं, वही काल, किंवा तत्कालोपलक्षित ऋतु **वसन्त** कहलाती है।

"यस्मिन् कालेऽग्निरतिशयेन पदार्थान् ग्रसति, गृह्णाति स कालो ग्रीष्मः"

"नितरांदहत्यग्निर्यस्मिन् कालेऽग्निः पदार्थान् स कालो निदाघः" इत्यादि निर्वचनों के अनुसार **ग्रीष्म** एवं **निदाघ**३ शब्दों से व्यवहृत होने लगता है । अग्नि में जा कर अग्नि और भी अधिक प्रवृद्ध होता है । यह अग्नि के उद्ग्राभ की चरम अवस्था है । अग्नि अपनी चरम सीमा पर पहुँच कर **"अग्नेरापः"** इस सिद्धान्त के अनुसार पानी के रूप में परिणत हो जाता है अतएव ग्रीष्म ऋतु के अव्यवहितोत्तर काल में ही वर्षा ऋतु का आगमन होता है। अग्नि के अतिशय मात्रा से उरु होने के कारण ही तदुपलक्षित काल को **"यस्मिन् कालेऽग्निरतिशयेनोरू इति स कालो वर्षाः"**, इस निर्वचन❀ के अनुसार **वर्षा**१ नाम से प्रसिद्ध है अथवा द्यु-अग्नि से ताड़ित होकर प्रतिमूर्च्छित होने वाला पार्थिव अग्नि ही भूपिण्ड की ओर आता हुआ अब्रूप में परिणत होता है, इसलिए भी इस ऋतु को—**"अग्निभिः प्रत्याहता अग्नयः प्रतिमूर्च्छिता आपो भूत्वा पृथिवीमभिवर्षन्ति सिञ्चति इति तदुपलक्षितः कालो वर्षाः**२", इस निर्वचन के अनुसार **वर्षा** शब्द से व्यवहृत करना न्याय प्राप्त है । इस प्रकार **वसन्तो भवन्ति, अतिशयेनग्रसन्ति, अतिशयेनउरवः**, इन निर्वचनों से **वसन्त–ग्रीष्म–वर्षा** भेद से एक अग्नि का उद्ग्राभ (चढाव) तीन भागों में परिणत हो रहा है ।

वर्षा अग्नि के उद्ग्राभ की चरमसीमा है । इसके अनन्तर क्रमशः अग्नि का निग्राभ होने लगता है । जिस प्रकार वसन्त आदि में अग्नि का क्रमशः उपचय होता है, ठीक इसके वितरीत शरदादि आगे की तीन ऋतुओं में क्रमशः अग्नि का अपचय (ह्रास) होने लगता है। अग्निकणों के शीर्ण हो जाने से वायु की जो प्रथम अवस्था रहती है तदुपलक्षित काल ही **"यस्मिन् काले पदार्थानामग्निकणाः शीर्णा भवन्ति स काल शरत्**३", इस निर्वचन के अनुसार **शरत्** नाम से व्यवहृत होता है। आगे जा कर अग्नि-

---

३—जिस काल में अग्निकण विशेष रूप से पदार्थों को ग्रहण कर लेते हैं, वही काल **ग्रीष्म** नाम से व्यवहृत होता है । इस काल में अग्नि विशेष रूप से पदार्थों को जलाने लगता है, अतएव इसे (ग्रीष्म) को **निदाघ** नाम से भी व्यवहृत किया जा सकता है ।

❀"जिस काल में अग्नि अतिशय मात्रा से उरु (विपुल-प्रवृद्धतम) बन जाता है वही काल **वर्षा** कहलाता है ।"

१—पाणिनीय व्याकरण के अनुसार 'उरु' शब्द को 'वर्ष' आदेश हो जाता है ।

२—अग्नियों के परस्पर प्रत्याघात से मूर्च्छित अग्नि ही अब् (पानी) बन कर बरसने के कारण वर्षा कहा जाता है ।

३—जिस काल में अग्निकण पदार्थों में से शीर्ण हो जाते हैं, वही काल किंवा ऋतु शरद् कहलाती है ।

कण और भी अधिक मात्रा में हीन हो जाते हैं। यही ऋतु "**यस्मिन् कालेऽग्निकणा हीनतां गता भवन्ति स कालो हेमन्तः१**", इस निर्वचन के अनुसार **हेमन्त** नाम से व्यवहृत होती है। अन्ततोगत्वा अग्निभाग सर्वथा निःशेष हो जाता है यही ऋतु "**यस्मिन् कालेऽग्निकणाः पुनपुनरतिशयेन शीर्णा भवन्ति स कालः शिशिरः२**", इस निर्वचन के अनुसार **शिशिर** नाम से व्यवहृत होता है। सोम अमृततत्त्व है, अतएव इसे नित्य माना जाता है। इधर अग्नि को (वशकलनधर्म्मा होने से) मरणधर्म्मा माना जाता है। परिवर्त्तन मर्त्याग्नि का ही सम्भव है, अमृत सोम का नहीं। यही कारण है कि ऋतु सम्बन्ध में अग्नि का ही उपचय-अपचय बतलाया गया है, इसीलिए ऋतुविज्ञानाचार्यों ने छओं ऋतुओं को अग्नि शब्द से व्यवहृत करने में कोई आपत्ति नहीं समझी है। "अग्नयो वा ऋतवः" (शत० ६।२।१।३६) इसी श्रौत ऋतु विज्ञान का निरूपण करते हुए अभियुक्त कहते हैं—

शीतर्त्तु मासाश्चत्वारो द्वौमासौ सन्धिरुत्तरौ।
उष्णर्त्तु मासाश्चत्वारो द्वौमासौ सन्धिरुत्तरौ ॥२॥

चतुरश्चतुरो मासान् स्वात्यमासमकालतः।
शीतोष्णवर्षाकालाख्याः सम्भवन्त्यृतवस्त्रयः ॥३॥

शीतकालो वत्सरार्द्धं याम्यगोलस्थ सूर्य्यकम्।
उष्णकालो वत्सरार्द्धं सौम्यगोलस्थ सूर्य्यकम् ॥३॥

ज्येष्ठा सन्नात्वमावास्या ज्येष्ठासन्ना च पूर्णिमा।
आभ्यांचन्द्रमसः कालो वत्सरे कल्पते द्विधा ॥४॥

एक एव ऋताग्निर्वा सोमतो ह्रासवृद्धितः।
ऋतुराख्यायतेषोढा ऋताः सोमाग्नि वायवः ॥५॥

वसन्तः स "वसन्तः"[1] स्युर्व्ययशेषा यदाग्नयः।
"ग्रीष्मः"[2] स यत्र गृह्णीयुर्भूतान्यन्तर्बहि बलात् ॥६॥

वरीयांसोऽग्नयो "वर्षा"[3] स्त्रय उद्ग्राभलक्षणाः।
उत्तरा अग्नि निग्राभ लक्षण ऋतवस्त्रयः ॥७॥

१—जिस ऋतु में अग्निकण अधिक मात्रा से हीन हो जाते हैं, वही काल हेमन्त है।

२—जिस काल में अग्निकण निःशेष रूप से शीर्ण हो जाते है, वही काल, शिशिर कहलाता है।

४
"शरत्" स आयादधिकं शीर्य्यन्ते तेऽग्नयो यतः ।
५
स "हेमन्तो" हासिमन्तो वायौ यत्राग्रयो बहिः ॥८॥
यत्राग्नयोऽतिशयतः शीर्णाः स्युः "शिशिर"स्तु सः ।
इत्थं वायौ सोमतोऽग्निर्वर्द्धतेऽपि च हीयते ॥९॥
(श्री गुरुप्रणीत–पितृ समीक्षा) ।

उक्त सन्दर्भ का निष्कर्ष यही हुआ कि ऋतअग्नि-ऋतसोम की मिलितावस्था का नाम ऋतु है । अग्निसोममयी यह ऋतुसमष्टि ही जगत् का उत्पादन कारण बनती है । तत्तद् ऋतु में तत्तत् पदार्थों का दर्शपूर्णमास हुआ करता है । शरद् ऋतु तेजोमूर्त्ति **घृत** का पूर्णमास है, हेमन्तादि में घृत का दर्श (अवसान) काल है । वसन्त में **मधु** का पूर्णमास है, ग्रीष्मादि में इसी का दर्श है । हेमन्त में **दधि** का पूर्णमास है, वसन्तादि में इसका दर्श है । शरद् में **अमृत** (सोम) का पूर्णमास है, वसन्तादि में इसका दर्श है । इस प्रकार उत्पन्न होने वाले पदार्थमात्र के लिए दर्श-पूर्णमास भेद से ऋतुव्यवस्था सर्वथा नियत है । जिस पदार्थ की जब ऋतु आती है तभी वह पदार्थ उत्पन्न होता है । अऋतु (असमय) में यदि उसकी उत्पत्ति हो जाती है तो वह लोक-संस्था के लिए अनिष्टकर बन जाता है । हमारा (असमदुपलक्षित जड़-चेतनोभयविध पदार्थ मात्र का) उपादान ऋतुतत्त्व ही है । इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर उपनिषत् श्रुति कहती है—

"विचक्षणाद् रेतो ऋतव आभृतं, पञ्चदशात् प्रसूतात् पित्र्यवतस्तन्मा पुंसि कर्त्तर्येरयध्वम् ।......तन्म ऋतवो अमर्त्यव आभरध्वम् ।......ऋतुरास्मि, आर्त्तवोऽस्मि" इति । (कौ०उ० १ अ०।३ख०) ।

'ऋतुकाले प्रयोगादेकरात्रोषितं कलिलं' भवति (गर्भोपनिषत्) इत्यादि श्रुत्यन्तर भी उक्त अर्थ का ही समर्थन करता है । स्त्री के शोणित में जब ऋतु-भाव का विकास होता है तो वह स्त्री ऋतुमती कहलाती है । ऋतु का पूर्ण विकास काल ही गर्भाधान-काल माना गया है । इस प्रकार जब ऋताग्निसोममय ऋतु-तत्त्व ही सब पदार्थों का उपादान है तो ऐसी दशा में सोमगुणक ऋताग्नि को, किंवा अग्निगुणक ऋतसोम को "**पितर**" शब्द की पूर्वोक्त व्याप्ति के अनुसार अवश्य ही "**पितर**" शब्द से व्यवहृत किया जा सकता है।

ऋतुकालानुगत सृष्टि विवर्त्त—

यद्यपि उक्त कथनानुसार छओं ऋतुओं को ही पितर शब्द से सम्बोधित किया जा सकता है, तथापि यदि सूक्ष्म विचार किया जाता है तो सोम–प्रधान शरत्–हेमन्त–शिशिर इन तीन ऋतुओं को ही प्रधानरूप से पितर मानना युक्तियुक्त होता है । पितर-प्राण सौम्य हैं, किंवा सौम्यप्राण ही पितर हैं । शरदादि तीनों में सौम्य-प्राण की ही प्रधानता है । यह अग्नि का अपचय काल है अतएव इन सौम्यऋतुपितरों के

ऋतुपितृ स्वरूप परिचय -

लिए—"अपक्षय भाजो वै पितरः" (कौ० ५।६) यह कहा जाता है। उधर वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा इन तीन ऋतुओं में देवप्राणस्वरूपसमर्पक अग्नि की प्रधानता है अतएव वसन्तादि तीनों ऋतुओं को हम **देव** शब्द से सम्बोधित कर सकते हैं। इसी प्रकार ऋताग्निप्रधान उत्तरायणकाल दिव्य है, ऋतसोमप्रधान दक्षिणायन काल पित्र्य है। अग्निप्रधान शुक्लपक्ष दिव्य है, सोमप्रधान कृष्णपक्ष पित्र्य है। अग्निमय अहःकाल दिव्य है, सोममय रात्रिकाल पित्र्य है। अहःकाल में भी अग्न्यादान पूर्वाह्ण काल दिव्य है, अग्निविसर्ग रूप अपराह्ण काल पित्र्य है। आगे जा कर अग्निसोम के उपचयापचय की सूक्ष्म व्याप्ति से यह देव-पितर व्यवस्था क्षणों तक अनुधावन करने में समर्थ हो जाती है, जैसा कि पूर्व में ऋतु की सर्वता बतलाते हुए विस्तार से प्रतिपादन हो चुका है। इसी **ऋतुपितरविज्ञान** की **उपनिषत्** (मूल सिद्धान्त) को लक्ष्य में रख कर अग्न्याधेय श्रुति कहती है—

"वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः—ते देवा ऋतवः। शरद्धेमन्तः शिशिरः—ते पितरः। य एवापूर्य्यतेऽर्द्धमासः, स देवाः। योऽपक्षीयते, स पितरः। अहरेव देवाः, रात्रिः पितरः पुनरह्णः पूर्वाह्णे देवाः, अपराह्णः पितरः। यत्रोदगावर्त्तते देवेषु तर्हि भवति। अथ यत्र दक्षिणावर्त्तते, पितृषु तर्हि भवति।XXXX। अमृता देवाः, अपहत पाप्मानो देवाः। मर्त्याः पितरः, अनपहतपाप्मानः पितरः" इति।
(शत० २।३।१।२-४)।

शरदादि भेद भिन्न इन ऋतुपितरों के सम्बन्ध में ब्राह्मण ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न प्रकार की व्यवस्थाएँ उपलब्ध होती हैं। उन सबका एकमात्र लक्ष्य ऋतुपितर ही है, जैसा कि तत्तद्वचनों से स्पष्ट हो जाता है।

१—"देवा* वृत्रं जघ्नुः ते नो व्यजयन्त। अथ यानेवैषामस्मिन् सङ्ग्रामेऽघ्नन्, पितृयज्ञेन समैरयन्त। पितरो वै त आसन। तस्मात् पितृयज्ञो नाम। तद् वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः, एते ते ये व्यजन्त। शरद्धेमन्तः शिशिरः, एत उ ते यत् समैरयन्त"

१—*देवताओं ने वृत्र को मार डाला। उन लोगों ने हमारे ऊपर विजय प्राप्त कर लिया। अनन्तर इनमें से जिन पितरों को इस संग्राम में (देवताओं ने) मार डाला, उन्हें पितृयज्ञ से पुनः प्रेरित किया। (जिन्हें पुनः प्रेरित किया) वे पितर ही तो थे। इसीलिए (देवताओं का यह कर्म्म) पितृयज्ञ नाम से प्रसिद्ध हुआ। (६ ऋतुओं में से देवरूप) वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा ये तीनों ही वे हैं जिन्होंने कि (वृत्र पर) विजय प्राप्त की थी। शरत्-हेमन्त-शिशिर ये तीनों वे ही पितर हैं जिन्हें कि (पितृयज्ञ से) प्रेरित किया था।

२—*"तद्ये सोमेनेजानाः, ते पितरः सोमवन्तः" (शत० २।६।१।७)।

३—"स पितृभ्यः सोमवदभ्य षट्कपालं पुरोडाशंनिर्वपति" (शत० २।६।१।४)।

४—"सोमाय वा पितृमते षट्कपालं पुरोडाशं निर्वपति"

५—"षड्वा ऋतवः पितरः" (शत० १३।८।१।२०)।

६—"यदृतवः पितरः प्रजापतिं पितरं पितृयज्ञेन अयजन्त, तत् पितृयज्ञस्य पितृयज्ञत्वम्" (तै०ब्रा० १।४।१०।८)।

७—"ऋतवः खलु देवाः पितरः। ऋतूनेव देवान् पितॄन् प्रीणाति। तान् प्रीतान् मनुष्याः पितरोऽनुप्रपिपर्ते" (तै०ब्रा० १।३।१०।५)।

८—"अथ ये दत्तेन पक्वेन लोकं जयन्ति, ते पितरो बर्हिषदः" (शत० २।६।१।७)।

९—"अथ ये ततो नान्यतरच्च न, यानग्निरेव दहन् स्वदयति, ते पितरोऽग्निष्वात्ताः" (शत० २।६।१।७)।

१०—"पितृ लोकः सोमः" (कौ० १६।५)।

फल्गुनी नक्षत्र से आरम्भ कर **आषाढा** नक्षत्र पर्य्यन्त वसन्त-ग्रीष्म इन दो ऋतुओं का भोग होता है। इन दोनों की सत्ता दक्षिण में है। ये ऋतुएँ **अग्निप्रधान** हैं। विज्ञान भाषानुसार दक्षिण भाग नीचा कहलाता है, अतएव ये ऋतुपितर **"अपरपितर"** कहलाते हैं। **आषाढा** नक्षत्र से आरम्भ कर **कृत्तिका** नक्षत्र

२*—जो कि सोम से यजन करने योग्य (पितर) हैं वे ही सोमवन्त पितर हैं।

३—वह अध्वर्यु सोमवान् पितरों के लिए षट्कपाल पुरोडाश का निर्वाप करता है।

४—पितृमान् सोम के लिए षट्कपाल पुरोडाश का निर्वाप करता है।

५—छः ऋतुएँ ही पितर हैं।

६—ऋतु पितरों ने पितृयज्ञ से जो पितरप्रजापति का यजन किया यही तो पितृयज्ञ का पितृयज्ञत्व है।

७—ऋतु ही पितृदेवतामय हैं। (पितृयज्ञ से) ऋतुरूप पितर देवताओं को ही तृप्त करता है। पितरों को तृप्त होते देख कर (पितरों के तृप्त हो जाने पर) इन पितरों का अनुगमन करने वाले मनुष्य तृप्त होते हैं।

८—जो दत्त पक्व द्रव्य से लोक विजय करते हैं. वे ही पितर बर्हिषद हैं।

९—जिन्हें अग्नि ही जलाता हुआ अपना स्वादु द्रव्य बनाता है, वे पितर अग्निष्वात्ता हैं।

१०—पितरों की आवास भूमि सोम है।

पर्य्यन्त वर्षा-शरद् इन दो ऋतुओं का भोग होता है। ये दोनों ऋतु **यमप्रधान** हैं। मध्यस्थ होने से इन ऋतुपितरों को **"मध्यम पितर"** कहा जाता है। **कृत्तिका** नक्षत्र से आरम्भ कर **फल्गुनी** नक्षत्र पर्य्यन्त हेमन्त–शिशिर इन दो ऋतुओं का भोग होता है। **ये दोनों सोमप्रधान** हैं।

सोम की सत्ता उक्थरूप से उत्तर में है। उत्तर स्थान पर स्थान ऊँचा स्थान कहलाता है अतएव यह ऋतुपितर **परपितर** नाम से प्रसिद्ध है। आधिदैविक मण्डलस्थ ये ही त्रिविध पितर क्रमशः **पिता–पितामह–प्रपितामह** हैं।

१—१—वसन्तः
२—२—ग्रीष्मः } →दक्षिणस्थोऽग्निः—अग्निष्वात्ताः पितरः—अवराः—**"पिता"**

—❀—

३—१—वर्षाः
४—२—शरत् } →मध्यस्थो यमः—बर्हिषदः पितरः—मध्यमाः—**"पितामहः"**

—❀—

५—१—हेमन्तः
६—२—शिशिरः } →उत्तरस्थः सोमः—सोमसदः पितरः—पराः—**"प्रपितामहः"**

—**—

ऋतुपित्र्यनुगता सप्तपुरुषता—

उक्त छओं ऋतुपितरों का मूलाधार सातवाँ सम्वत्सर प्रजापति है। यही इन पितरों का परम एवं आदि पितर है। इसी अभिप्राय से इसके लिए **"संवत्सरो वै सोमः पितृमान"** (तै०ब्रा० १।६।८।२) यह कहा जाता है। पाठकों को स्मरण होगा कि पूर्व की **"दिव्यपितरविज्ञानोपनिषत्"** में हमने अव्यय-अक्षरादि भेद से सातों पितरों की क्रमिक व्यवस्था बतलाई है। ठीक इसी प्रकार ऋतुपितरों के सम्बन्ध में भी सापिण्ड्य प्रवर्त्तक सातों पितरों का क्रमशः अवस्थान समझना चाहिए। वसन्त ऋतु **पुत्र**[१] है, ग्रीष्म **पिता**[२] है, वर्षा **पितामह**[३] है, शरत् **प्रपितामह**[४] है, हेमन्त **वृद्धप्रपितामह**[५] है, शिशिर **अतिवृद्धप्रपितामह**[६] है, एवं सर्वालम्बन संवत्सर **वृद्धातिवृद्धप्रपितामह**[७] है। जैसा कि निम्नलिखित परिलेखों से स्पष्ट हो जाता है—

—**—

१—"संवत्सरो वै सोमः पितृमान्"————————→प्रपितामहः————→पराः

२—"मासा वै पितरो बर्हिषदः"————————→पितामहः————→मध्यमाः

३—"अर्द्धमासा वै पितरोऽग्निष्वात्ताः"————————→पुत्रः————→अवराः

१—"अहोरात्रे—अग्नीषोमौ—दिवसः"— ——————→स पिता

२—"पूर्वापरपक्षौ—अग्नीषोमौ—मासः"——————→स पितामहः

३—"उदग्दक्षिणायने—अग्नीषोमौ—संवत्सरः"——————→स प्रपितामहः

— * —
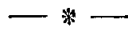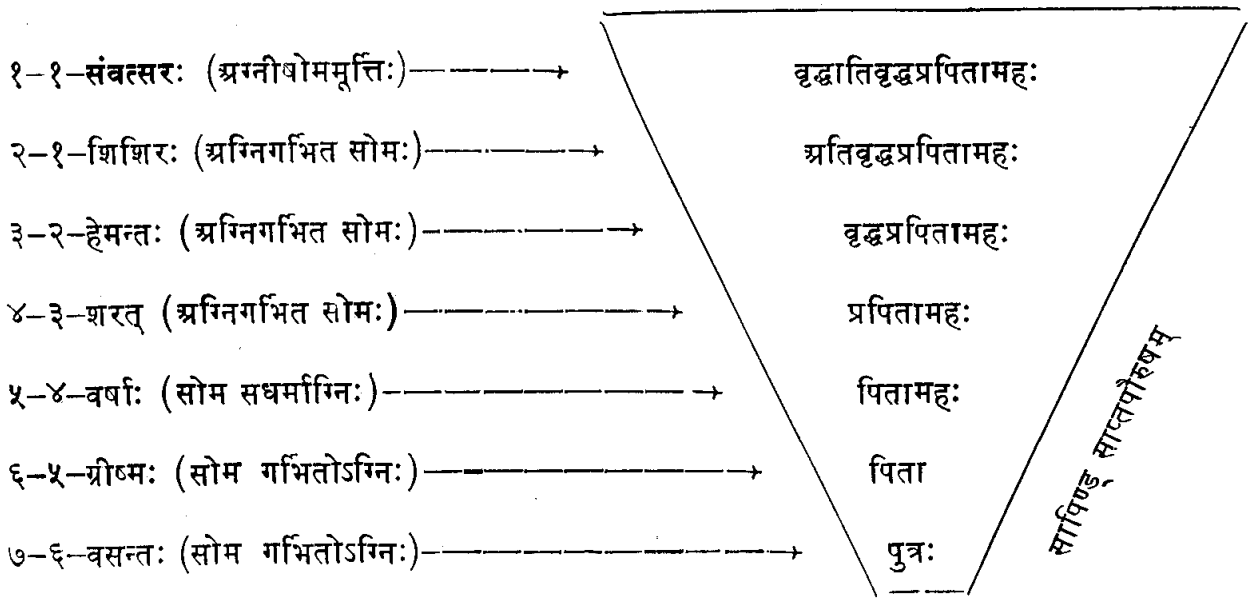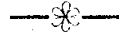
१—१—वसन्तः——————→सोमपाः पितरः

२—२—ग्रीष्मः——————→आज्यपाः पितरः

३—३—वर्षाः——————→हविर्भुजः पितरः

४—१—शरत्——————→सोमसदः पितरः

५—२—हेमन्तः——————→बर्हिषदः पितरः

६—३—शिशिरः——————→अग्निष्वात्ताः पितरः

इति "वसन्तादि षड्ऋतुभ्यो नमः"

१
शीत ऋतुः
(शीतकाल)
सूर्यः
दक्षिण दिक्
सूर्य

सूर्य्यः

दि
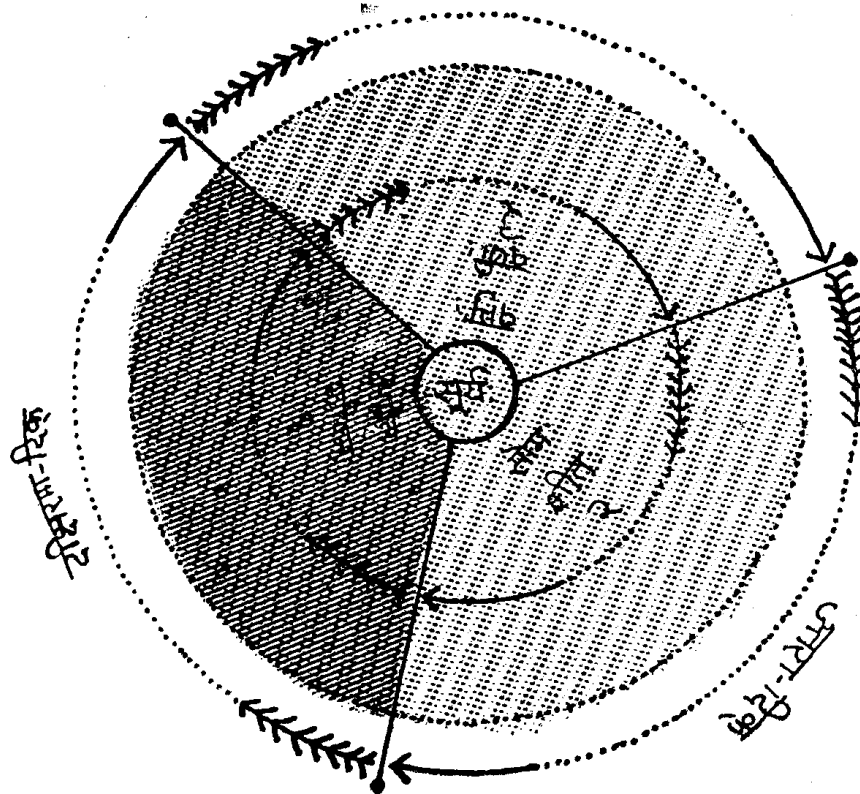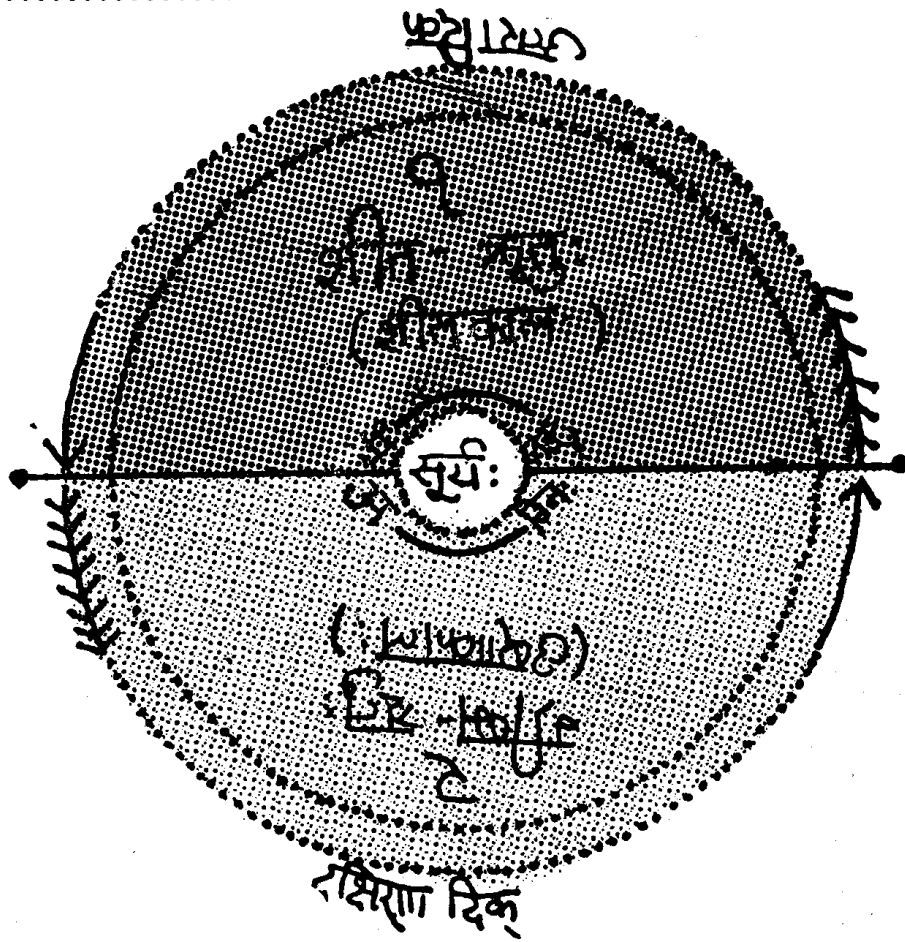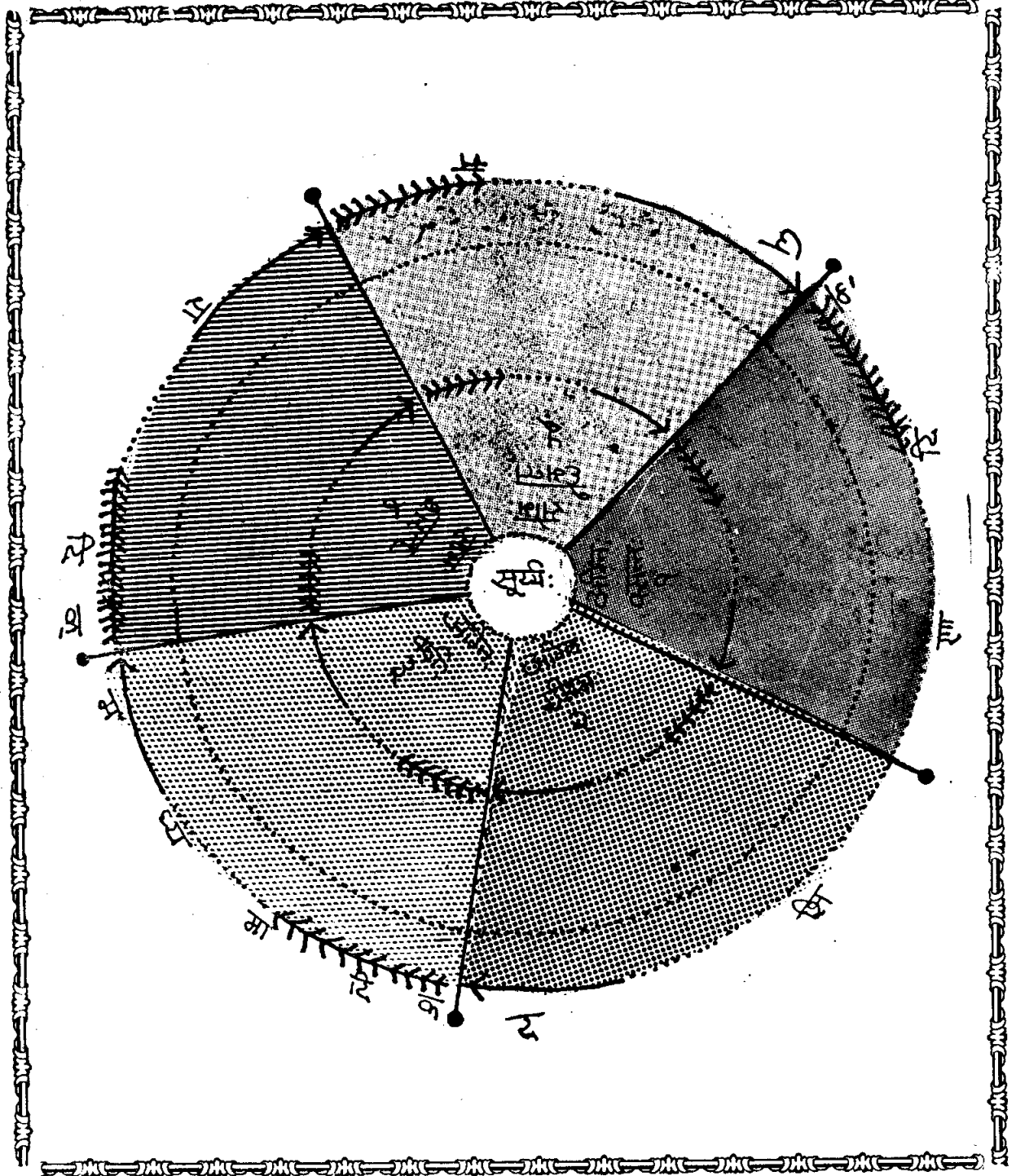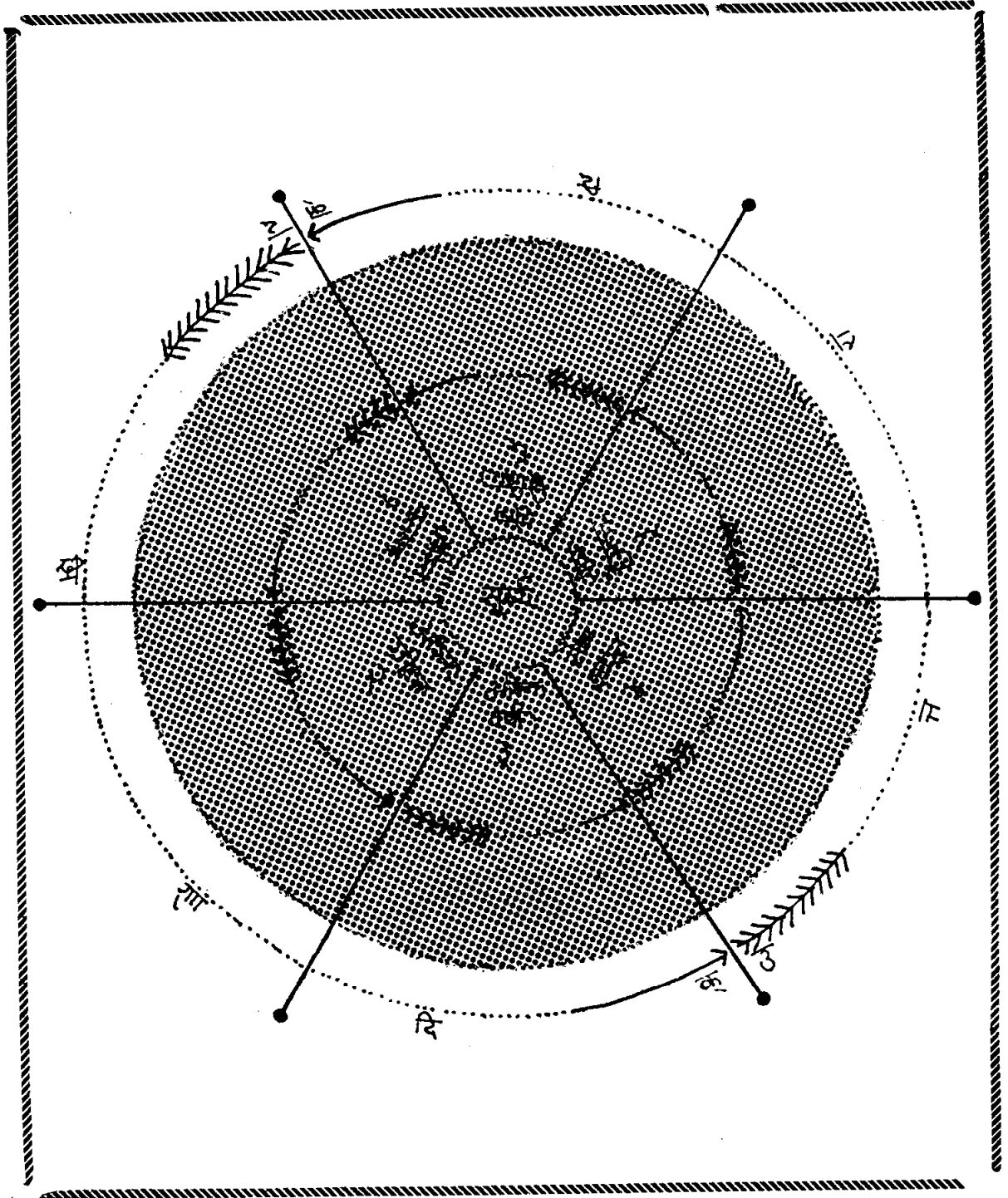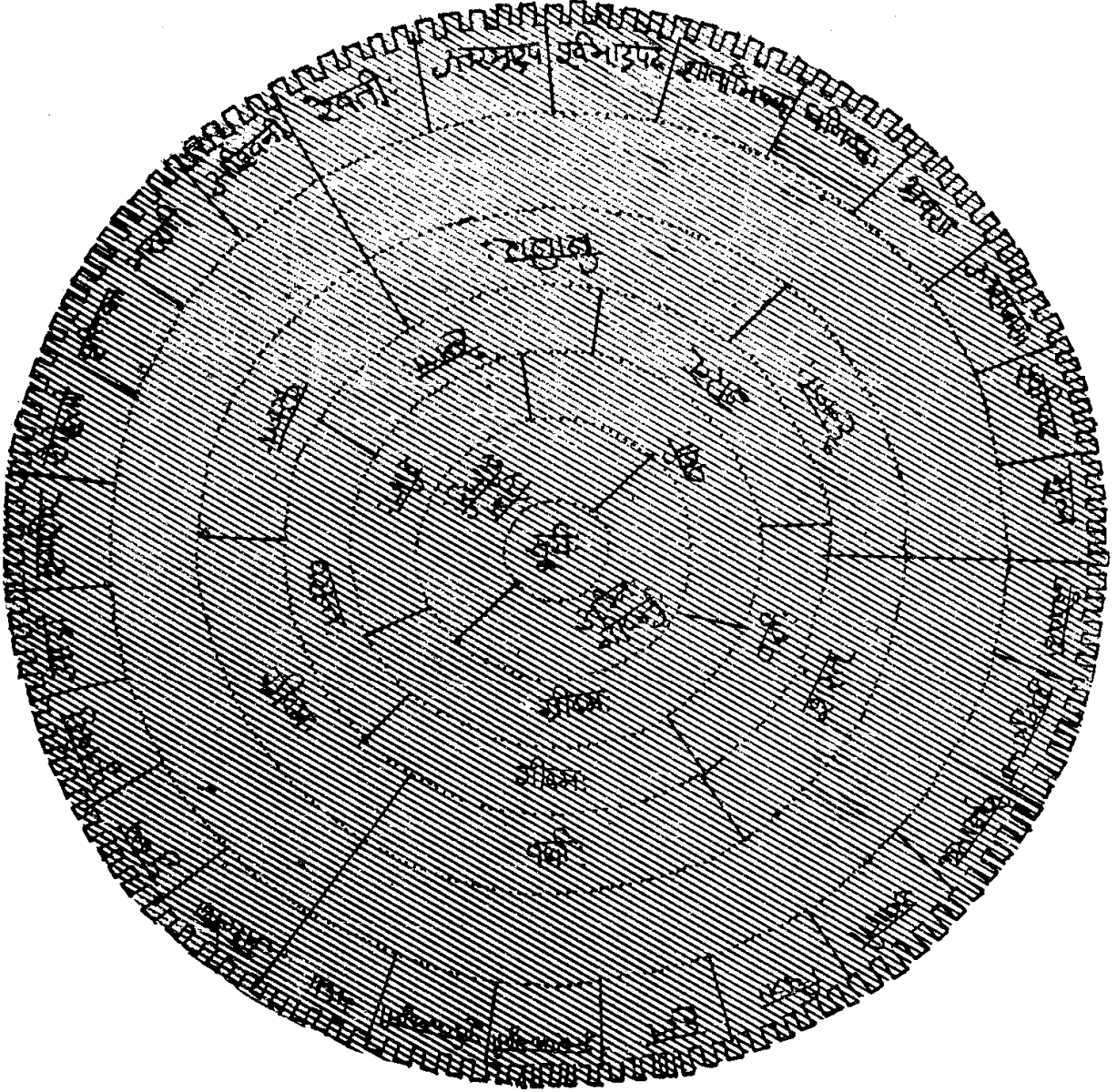
इति—पितरस्वरूपविज्ञानोपनिषदि ऋतुपितरविज्ञानोपनिषत् समाप्ता

अथ
पितरस्वरूपविज्ञानोपनिषदि
प्रेतपितरविज्ञानोपनिषत्
पञ्चमी
[५]

यद्यपि पूर्व प्रकरण से पितृस्वरूप गतार्थ हो जाता है तथापि विषय की गहनता हमें इसके लिए बाध्य करती है कि प्रेत—पितरों के स्वरूप निरूपण से पहिले सिंहावलोकन न्याय से संक्षेपतः पुनः एक बार पितरप्राण के सामान्य स्वरूप की ओर विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाय।

लोकानुगत पितृस्वरूप परिचय—

पूर्व की **पितृणांपितर विज्ञानोपनिषत्**, **दिव्यपितर विज्ञानोपनिषत्**, **ऋतुपितर विज्ञानोपनिषत्** इन तीनों उपनिषदों में प्रकीर्णक (फुटकर) रूप से पितरप्राण का स्वरूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया गया है। इस प्रकरण में पूर्वप्रतिपादित उन प्रकीर्णक विषयों का संग्रह किया जा रहा है। **पितृणांपितर विज्ञानोपनिषत्** प्रकरण के आरम्भ में हमने **पर–मध्यम–अवर** भेद से तीन प्रकार के पितर बतलाए हैं एवं इन्हीं तीनों को क्रमशः **नान्दीमुख–पार्वण–प्रेत** नामों से व्यवहृत किया है। इन तीनों में नान्दीमुख—पितर द्युलोक में प्रधान रूप से प्रतिष्ठित हैं अतएव इन्हें **दिव्यपितर** कहा जाता है। पार्वण पितरों की मूल प्रतिष्ठा अन्तरिक्ष है। अन्तरिक्ष ऋतवायु प्रधान है, अतएव इन आन्तरिक्ष्य पितरों को **ऋतुपितर** कहा जाता है। ये दोनों आधिकारिक पितर हैं। नित्य पितर हैं। सृष्टि सञ्चालन करना इनका मुख्य कर्म्म है। पूर्व के दोनों प्रकरणों में क्रमशः इन्हीं तीनों नित्य पितरों का निरूपण हुआ है। **अश्रुमुख** नाम से प्रसिद्ध तीसरे "**प्रेतपितर**" हैं। इनकी मूल प्रतिष्ठा पृथिवीलोक है। ये ही कर्म्मपितर हैं। कर्म्मानुसार **कर्मभोक्ता जीवात्मा को तत्तत् योनियों में आना पड़ता है।** शरीर से निकलने वाला महत् सोमावच्छिन्न **यह पितर प्राण इससे ऊपर की ओर जाता है अतएव "प्र–इतः" के अनुसार प्रेत शब्द से व्यवहृत** किया जाता है। यह प्रेतपितर जब तक पार्थिव कक्षा के भीतर रहता है, तब तक तो इसकी स्थिति विपरीत

रहती है। ऐसी दशा में **पार्थिव** आकर्षण की **प्रधानता से** इसे दुःख होता है। इसी दुःखावस्था को लक्ष्य में रख कर **इसे अश्रुमुख** कहा जाता है। **यही प्रेतपितर** अन्तरिक्ष में जा कर पार्थिव आकर्षण से विमुक्तप्राय होता हुआ, सम स्थिति में परिणत होता हुआ, आन्तरिक्ष्य **ऋतुपितरों से संश्लिष्ट होता** हुआ तद्रूप में परिणत हो कर "**पार्वण पितर**" नाम से **प्रसिद्ध हो जाता है**। शुभ कर्म्म (इष्ट-आपूर्त्त-दत्त रूप विद्या निरपेक्ष प्रवृत्ति सत्कर्म्म) के बल से **अन्ततः** द्युलोक में जाता हुआ, **वहाँ रहने वाले** नान्दीमुख पितरों से युक्त होता हुआ तद्रूप बन कर यह प्रेतपितर **भी नान्दीमुख** नाम से प्रसिद्ध हो जाता है। यहाँ का **पार्थिव** आकर्षण एक प्रकार से सर्वथा श्लथ हो जाता है। इस **आकर्षण** जनित दुःख से विमुक्त हो कर यह सुखी बन जाता है। इस प्रकार सांस्कारिक कर्म्मबल के तारतम्य से एक ही प्रेतपितर लोकत्रय भेद से **प्रेत–पार्वण–नान्दीमुख** इन तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है।

१—नान्दीमुखाः————→प्रेतपितरः————→दिव्यावस्थापन्नाः

२—पार्वणः————→प्रेतपितरः————→आन्तरिक्ष्याः

३—अश्रुमुखाः————→प्रेतपितरः————→पार्थिवाः

उक्त कथन से यह भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि **नान्दीमुख** एवं **पार्वण** ये दोनों पितर तो **आधिकारिक** एवं **कार्म्मिक** भेद से दो-दो प्रकार के हैं एवं **प्रेतपितर** केवल **कर्म्मप्रधान** हैं। प्रेतावस्था अवर अवस्था है, पार्वणावस्था मध्यमावस्था है, नान्दीमुखावस्था पर अवस्था है।

आधिकारिक, कार्म्मिक पितर—

प्रकारान्तर से देखिए। तीन ही आधिकारिक पितर हैं एवं तीन ही कार्म्मिक पितर। साथ ही में **अग्नि–यम–सोम** भेद से प्रत्येक पितर की अवान्तर तीन-तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं। द्युलोक में भी **अग्नि–यम–सोम** ये तत्त्व प्रतिष्ठित हैं, अन्तरिक्ष भी अग्नि–यम–सोममय है। पृथिवी भी अग्नि–यम–सोम से शून्य नहीं है। द्युलोकस्थ अग्नि **सावित्र** है, दिव्य यम **शुचि** है, दिव्य सोम ब्रह्मणस्पति है। आन्तरिक्ष्य अग्नि **नाक्षत्रिक** (धिष्ण्य) है, आन्तरिक्ष्य यम **पावक** है एवं आन्तरिक्ष्य सोम **गन्धर्व** नाम से प्रसिद्ध है। पार्थिव अग्नि **गायत्र** है, पार्थिव यम **पावन** है एवं पार्थिव सोम (चान्द्रसोम गर्भित) **दिक्सोम** नाम से प्रसिद्ध है। त्रिविध दिव्य नान्दीमुख पितरों की गति पृथिवी की ओर हुआ करती है। ऋतुपिताराख्य आन्तरिक्ष्य त्रिविध पार्वण पितरों की गति (वायुप्रधान होने से) सदा तिर्य्यक होती है एवं पार्थिव त्रिविध अश्रुमुख पितरों की गति द्युलोक की ओर हुआ करती है। पार्थिव गायत्राग्नि सदा ऊपर की ओर ही जाया करता है। भूकेन्द्र से निकल कर द्युमण्डल की ओर जाने वाला यही गायत्राग्नि सोमापहरण कर स्वस्वरूप की रक्षा करने में समर्थ होता है। विशुद्ध रूप से गायत्राग्नि ऊपर की ओर जाता है एवं सोममय बन कर वापस लौटता है। गमन भाव "**एति**" है, आगमन भाव "**प्रेति**" है। एति–प्रेति ही गायत्राग्नि का प्रधानकर्म्म है। गायत्राग्नि के इसी स्वरूप धर्म्म को लक्ष्य में रख कर ब्राह्मण श्रुति कहती है—

※"स वाऽएति च प्रेति चान्वाह। गायत्री मेवैतदर्वाचीं च पराचीं च युनक्ति। पराच्यह देवेभ्यो यज्ञं वहति, अर्वाची मनुष्यानवति" (शत० १।३।३)।

गायत्री से सम्बन्ध रखने वाले इस **प्रेतिभाव** के कारण ही हम इस पार्थिव पितरप्राण को **"प्रेत"** शब्द से सम्बोधित कर सकते हैं। साथ ही में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि गायत्र अग्नि का पार्थिव **उषा** के साथ सम्बन्ध है एवं इसी उषा के समन्वय से पृथिवी पर आया हुआ प्रतिफलित सौर तेज **अश्व** कहलाता है। "उषा वै अश्वस्थ मेध्यस्थ शिरः" इस औपनिषत् सिद्धान्त के अनुसार सौर अश्व का **मुखभाग** भूपृष्ठ से संलग्न उषा है, पृष्ठ भाग **द्यु**लोक रहता है। इधर अधोमुखमयी अश्वात्मिका उषा से **सम्बद्ध** गायत्राग्निमय पार्थिव पितरों का मुख भी तो भूपिण्ड की ओर रहता है, पृष्ठभाग द्युलोक की ओर रहता है। लोक भाषा के अनुसार पार्थिव पितरों का मस्तक नीचे है, पैर ऊपर हैं। यह महादुःखावस्था है। इसी स्वाभाविक स्थिति का अभिनय करने के लिए ही इन पार्थिव पितरों को **"अश्रुमुख"** कहा गया है।

इस प्रकार तीन-तीन भागों में विभक्त उक्त तीनों पितर ही क्रमशः **पर–मध्यम–अवर** नाम से प्रसिद्ध हैं। इन तीनों पितर संस्थाओं में पितृप्राण की प्रतिष्ठा सोम तत्त्व ही है अतः सामान्य रूप से पितरों के लिए **"पितरः सौम्यासः"** यह कहा जाता है। अपनी-अपनी लोकसंस्था में रच-रच पितर अपनी-अपनी संस्था की अग्निमय आग्नेय पितरों से स्थिति होती है। यममय याम्य पितरों का नाश भाव से सम्बन्ध है।

अग्नि **अन्नाद** है, सोम **अन्न** है, यम **अनुभय** है अतएव ये तीनों पितर क्रमशः **अन्नपितर–अन्नाद-पितर–अनुभयपितर** नाम से प्रसिद्ध हैं। अग्निपितर अन्नाद है, सोमपितर अन्न है, यमपितर अनुभय है। वह पितरप्राण जो सौम्य होने से आग्नेय पदार्थों का अन्न बनता है, **अन्न पितर** है। इसकी **अग्निष्वात्ता–सोमसत्–बर्हिषत्** ये तीन अवान्तर अवस्थाएँ हैं। वह पितरप्राण जो आग्नेय होता हुआ सोमात्मक अन्न खाया करता है, **अन्नाद पितर** है। इसकी हविर्भुक्–आज्यपा–सोमपा ये तीन अवान्तर अवस्थाएँ हैं। वह पितरप्राण जो न किसी का अन्न बनता है, न किसी को अन्न बनाता है, **अनुभय पितर** है। यही याम्य पितर है। इस प्रकार ३–अन्नपितर, ३–अन्नाद पितर, १–अनुभय पितर संभूय ७–दिव्यपितर हो जाते हैं। यही सात संख्या आन्तरिक्ष्य ऋतुरूप पार्वण पितरों की है यही संख्या पार्थिव अश्रुमुख पितरों की है। इन तीनों में दिव्यपितर सोमप्रधान हैं, ऋतुपितर यमप्रधान हैं, अश्रुमुख पितर अग्नि प्रधान हैं। प्रत्येक की सात-सात अवस्थाएँ हो जाती हैं। इस प्रकार संभूय पितरप्राण की २१ अवान्तर अवस्थाएँ हो जाती हैं। यह है नित्य प्राकृतिक सृष्टि प्रवर्त्तक आधिकारिक पितरों का संक्षिप्त निदर्शन।

※वह ऋत्विक एति-प्रेति बोलता है। (इस एति-प्रेतिभाव से वह ऋत्विक्) गायत्री को ही पृथिवी की ओर एवं द्युलोक की ओर मिलाता है। ऊपर की ओर जाती हुई गायत्री देवताओं के लिए यज्ञ वहन करती है एवं नीचे की ओर आती हुई (दिव्य सोम की आहुति द्वारा) मनुष्यों की रक्षा करती है।

१—नान्दीमुखाः—दिव्यपितरः सप्त "परासः"

—**—

२—ऋतुपितरः पार्वणाख्याः—आन्तरिक्ष्याः पितरः सप्त "मध्यमासः"

—**—

३—प्रेतपितरः—अश्रुमुखाः पार्थिवाः सप्त "अवरासः"
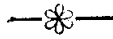
स्तौम्य पितृस्वरूप परिचय— अग्नि–यम–सोम इन तीनों की हमने क्रमशः स्तौम्य त्रिलोकी के तीनों लोकों में सत्ता बतलाई है, परन्तु इसमें एक विशेष व्यवस्था है। अग्नि पार्थिव तत्त्व है, यम आन्तरिक्ष्य तत्त्व है, सोम दिव्य तत्त्व है। सुतरां तीनों में क्रमशः अग्नि–सोम–यम इन तीनों तत्त्वों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। पार्थिव अग्नि पृथिवी में प्रधान बनता हुआ अपनी घन तरल विरल अवस्थाओं से सम्पूर्ण स्तौम्य त्रिलोकी में व्याप्त हो रहा है। इन्हीं तीनों अग्नियों को क्रमशः **गायत्राग्नि–नाक्षत्रिकाग्नि–सावित्राग्नि** इन नामों से व्यवहृत किया जाता है। इसी प्रकार द्युलोक में प्रतिष्ठित रहने वाला सोम भी घन–तरल–विरल अवस्था भेद से त्रैलोक्य में व्याप्त हो रहा है। सोम की घनावस्था "अप्" है। इसका त्रिवृत् स्तोम (९) स्थानीय पार्थिव गायत्राग्नि से सम्बन्ध है। सोम की तरलावस्था "**साम्बसदाशिव**" नाम का वायुतत्त्व है। इसका पञ्चदशस्तोम (१५) स्थानीय आन्तरिक्ष्य नाक्षत्रिकाग्नि से सम्बन्ध है विरलावस्थापन्न अतएव प्राणात्मक **सोम**, सोम नाम से ही व्यवहृत हुआ है। इसका एकविंशस्तोम (२१) स्थानीय दिव्य सावित्राग्नि से सम्बन्ध है। शेष रहता है आन्तरिक्ष्य यम। यह भी अवस्थात्रयी के कारण तीन स्वरूप धारण कर लेता है। पार्थिव-घनावस्थापन्न यम–वायु **पवमान** है, इसका घन सोमावच्छिन्न पार्थिवघनाग्नि (गायत्राग्नि) के साथ सम्बन्ध है। आन्तरिक्ष्य तरलावस्थापन्न यम–वायु पावक है, इसका तरल सोमावच्छिन्न आन्तरिक्ष्य तरलाग्नि (नाक्षत्रिकाग्नि) के साथ सम्बन्ध है। द्युलोकस्थ विरलावस्थापन्न यम–वायु शुचि है, इसका विरलसोमावच्छिन्न दिव्य विरलाग्नि (सावित्राग्नि) के साथ सम्बन्ध है। इस प्रकार ९ अग्नि–यम–सोमों के निम्नलिखित रूप से तीन त्रिक् हो जाते हैं।

१←{
१—दिव्याग्निः———→सावित्राग्निः———→(विरलाग्निः—पार्थिवः)
२—दिव्ययमः———→शुचिर्यमः———→(विरलवायुः—आन्तरिक्ष्यः)
३—दिव्यसोमः———→प्राणात्मको विरलसोमः——→(विरलसोमः—दिव्यः)

२←{
१—आन्तरिक्ष्याग्निः——→नाक्षत्रिकाग्निः———→(तरलाग्निः—पार्थिवः)
२—आन्तरिक्ष्य यमः———→पावकोयमः————→(तरलवायुः—आन्तरिक्ष्यः)
३—आन्तरिक्ष्य सोमः———→सदाशिवः सोमः———→(तरलसोमः—दिव्यः)

३←{
१—पार्थिवाग्निः———→गायत्राग्निः———→(घनाग्निः—पार्थिवः)
२—पार्थिवयमः———→पवमानोयमः———→(घनवायुः—आन्तरिक्ष्यः)
३—पार्थिवसोमः———→अब्सोमः———→(घनसोमः—दिव्यः)

—❀—
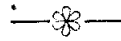
आयन्तु नः पितरः— सोम का स्वस्थान तृतीय द्युलोक स्थानीय परमेष्ठी है। पृथिवी से उत्कृष्ट अन्तरिक्षलोक स्थानीय प्रथम द्युलोक है। इससे उत्कृष्ट सूर्य्यलोक स्थानीय द्वितीय द्युलोक है। एवं सबसे प्रकृष्ट परमेष्ठि स्थानीय तृतीय द्युलोक है, अतएव इसे "**प्रद्यौः**" कहा जाता है। सोम की प्रधानता के कारण, दूसरे शब्दों में यहाँ सोम के पूर्ण रूप से विकसित रहने के कारण इस 'प्रद्यौ' को पितरों का प्रातिस्विक (अपना) लोक माना जाता है। जैसा कि "तृतीयाह प्रद्यौ यस्यां पितर आसते" (यजुर्वेद) इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। पितरप्राण के स्वाभाविक विकास के कारण ही इन पारमेष्ठ्य सौम्य पितरों को हम **नान्दीमुख** कहने के लिए तय्यार हैं। अन्तरिक्ष लोक में सोम का अभिभव हो जाता हैं। ऋतुरूप यम की प्रधानता हो जाती है। कारण स्पष्ट है। यम आन्तरिक्ष्य तत्त्व है। दूसरे शब्दों में अन्तरिक्ष यम का प्रातिस्विक लोक है, अतएव इसमें यम की प्रधानता स्वतः सिद्ध है, अतएव इन आन्तरिक्ष्य यमगर्भित सौम्य पितरों को मध्यम श्रेणि के पितर मानना न्याय-सङ्गत होगा यही **ऋतुपितर** किंवा **पार्वणपितर** है। पृथिवीलोक में आकर सोम नितान्त मूर्च्छित हो जाता

है। गायत्राग्नि प्रधान बन जाता है। उधर यह गायत्राग्नि पूर्वकथनानुसार **"प्रेति"** भाव से युक्त है, अतएव तत् सम्बन्धावच्छिन्न पार्थिव पितर **"प्रेतपितर"** नाम से प्रसिद्ध होते हैं। सर्वत्र (तीनों लोकों में) सौम्यप्राण ही पितर हैं, परन्तु अग्नि–यम–सोम की प्रधानता से तीनों को क्रमशः आग्नेय, याम्य, सौम्य नामों से व्यवहृत कर दिया जाता है। वस्तुतः "आयन्तु नः पितरः सौम्यासः" यह सिद्धान्त अक्षुण्ण है।

प्रजोत्पादक पितर— पितर को हमने प्रजोत्पादक बतलाया है। दूसरे शब्दों में प्रजा को उत्पन्न करने के कारण ही इस सौम्यप्राण की पितर संज्ञा रक्खी गई है। उत्पत्ति में इच्छा–तप–श्रम ये तीन अनुबन्ध नितान्त अपेक्षित हैं, जैसा कि **"अमृतात्म विज्ञानोपनिषत्"** में विस्तार से बतलाया जा चुका है। बिना इन तीनों के समन्वय के सृष्टि कथमपि नहीं हो सकती। इनमें इच्छा का विकास ज्ञानमय मन से होता है, तप का विकास क्रियामय प्राण से होता है, एवं श्रम की प्रवृत्ति अर्थमयी वाक् से होती है। ऐसी स्थिति में प्रजासृष्टि के प्रवर्त्तक पितरप्राण के साथ भी इन तीनों अनुबन्धों का समन्वय होना आवश्यक हो जाता है। उपर्युक्त तीनों (पर-मध्यम-अवर) पितरों में अग्नि–यम–सोम इन तीनों तत्त्वों के समन्वय से उक्त तीनों अनुबन्धों का भोग सिद्ध हो जाता है।

मनोमय ज्ञानमूर्ति अव्यय का सम्बन्ध **महत्** नाम के पारमेष्ठ्य **"वीध्र"** सोम के साथ होता है। अव्ययानुग्रह से महत् सोम ज्ञानमूर्ति बन जाता है। यही पहिली **ज्ञान–कला** है। इसी से **इच्छा** नाम के प्रथम अनुबन्ध का उदय होता है। क्रियाघन प्राणमूर्ति अक्षर का विकास आन्तरिक्ष्य यम नाम के वायु धरातल पर होता है। इस अक्षर के सम्बन्ध से यम–वायु क्रियामय बन जाता है। यही दूसरी **क्रियाकला** है। इसी से **तप** नाम के दूसरे सृष्ट्यनुबन्ध का उदय होता है, एवं अर्थमूर्ति क्षर के अनुग्रह से पार्थिव अग्नि अर्थमय बन जाता है। दूसरे शब्दों में अर्थघन वाङ्मूर्ति क्षर की विकास भूमि पार्थिव अग्नि ही है। यही तीसरी **अर्थकला** है। इसी से **श्रम** नाम के तीसरे सृष्ट्यनुबन्ध का उदय होता है। तीनों लोकों में (प्रत्येक में) अग्नि–यम–सोम की सत्ता बतलाई गई है साथ ही में पूर्व कथनानुसार तीनों क्रमशः अर्थ–क्रिया–ज्ञानमूर्ति बनते हुए इच्छा–तप–श्रम के प्रवर्त्तक हैं। फलतः इस त्रिविद्भाव के कारण तीनों लोकों में तीनों अनुबंधों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। हाँ, यह ध्यान अवश्य रखना पड़ेगा कि द्युलोक में होने वाली सृष्टि **ज्ञानप्रधाना** है, क्योंकि वहाँ ज्ञानमूर्ति सोम की ही प्रधानता है। ज्ञान ही आनन्द की विकास भूमि है। बिना ज्ञान के न आनन्द का उदय हो सकता है, न आनन्द का अनुभव, अतएव इन सोमप्रधान अर्थात् ज्ञानमूर्ति दिव्य पितरों को **नान्दीमुख** (आनन्दमुख–प्रसन्नमुख) कहना न्यायसंगत होता है। अन्तरिक्ष में होने वाली सृष्टि **क्रिया प्रधाना** है। कारण यहां क्रियामूर्ति यम–वायु की ही प्रधानता है। ऋतवायु ही ऋतभाव का प्रवर्त्तक है अतएव इन वायु-प्रधान अर्थात् क्रियामूर्त्ति आन्तरिक्ष्य पितरों को **ऋतुपितर** (पार्वणपितर) नाम से व्यवहृत करना न्यायसङ्गत होता है। पृथिवी में होने वाली प्रजा-सृष्टि

अर्थप्रधाना (भूत प्रधाना) है, क्योंकि यहाँ अर्थमूर्ति पार्थिव गायत्र अग्नि ही प्रधान है। इसका प्रेति भाव से सम्बन्ध बतलाया गया है। अतएव इन अग्निप्रधान अर्थात् अर्थमूर्ति पार्थिव पितरों को **प्रेतपितर** (अश्रुमुख पितर) नाम से व्यवहृत करना न्यायसङ्गत हो जाता है। त्र्यवयव (अग्नियमसोमावयव) पितरप्राण का **सोमांश** पदार्थों की उत्पत्ति का कारण है, **अग्न्यंश स्थितिभाव** का प्रवर्त्तक है एवं **यमांश उत्सादन भाव** का अधिष्ठाता है।

घनावस्थापन्न अब्मूर्त्ति पार्थिवसोम दिक्सोम है, अतएव **"पृथिव्यन्तरिक्षंद्यौर्दिशः"** के साथ क्रमशः

त्रैगुण्य भावानुगत पितर—

"अग्निवायुरादित्यः—आपः" इस वाक्य का सम्बन्ध माना जाता है। इस अप्सोम के समन्वय से पार्थिव गायत्राग्नि द्वारा पृथिवी का स्वरूप निर्म्माण होता है। इसी आधार पर **"अद्भ्यः पृथिवी"** (तै. उपनिषत्) यह कहा जाता है। उपादान द्रव्य **अप्तत्त्व** है, यही **रेतः** (आहुति द्रव्य) है। **गायत्राग्नि योनि** है। **पवमान** वायु **रेतोधा** है। इन तीनों–रेतः–योनि–रेतोधा तत्त्वों के समन्वय से भूसृष्टि हुई है। **आगे** चलिए। आन्तरिक्ष्य गन्धर्वयुक्त (वायुरूप) **चन्द्रसोम रेतः** है **ऋताग्नि** (नाक्षत्रिकाग्नि) **योनि** है, पावक नाम का यमवायु **रेतोधा** है। तीनों के समन्वय से **अन्तरिक्ष संस्था** का उदय हुआ है। दिव्यलोकस्थ **ब्रह्मणस्पति** नाम का सोम **रेतः** है, **सत्य** सावित्राग्नि **योनि** है, **शुचि** नाम का वायु **रेतोधा** है। तीनों के समन्वय से **दिव्य संस्था** स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित है।

सत्त्वगुण ज्ञानप्रधान है, **रजोगुण** क्रिया प्रधान है। तथा **तमोगुण** अर्थप्रधान है। इसी त्रैगुण्य भाव की नियत व्यवस्था के कारण ज्ञानप्रधाना दिव्यसृष्टि को **"सत्त्वविशाल सर्ग"** नाम से, क्रियाप्रधान आन्तरिक्ष्य सृष्टि को **"रजोविशाल सर्ग"** नाम से, एवं अर्थप्रधान **पार्थिवसृष्टि** को **"तमो विशालसर्ग"** नाम से व्यवहृत किया जाता है। **प्राधानिक** (साख्य) शास्त्रसम्मत **चतुर्दशविधभूतसर्ग** का इन्हीं तीनों सृष्टियों में अन्तर्भाव है। इस भूतसर्ग के प्रवर्त्तक पूर्वप्रतिपादित **पर–मध्यम–अवर** पितर ही हैं।

"जायमानो वै जायते सर्वाभ्यो एताभ्यो एव देवताभ्यः" इस श्रौतसिद्धान्त के अनुसार सब कुछ दृश्यमान प्रपञ्च **ऋषि–पितर–देवता–असुर–गन्धर्वादि**–प्राणदेवताओं के समन्वय–तारतम्य से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार पितर प्राणवत् इतर ऋषि–देवप्राणादि को भी उत्पादक माना जा सकता है, तथापि अग्नि सोममयी मैथुनी सृष्टि का प्रथम प्रवर्त्तक इन प्राण देवताओं में से केवल पितरप्राण ही है, अतएव अङ्गिरागर्भित भार्गव सौम्यप्राण को ही पितर शब्द से सम्बोधित किया जाता है। इस प्रकार पितरप्राण का सृष्टिप्रवर्त्तकत्व भली भाँति सिद्ध हो जाता है। उक्त तीनों ही पितर आधिकारिक पितर हैं। इन आधिकारिक पितरों के आधार पर तीन प्रकार के ही कार्म्मिक पितरों का स्वरूप सम्पन्न होता है जैसा कि आगे जा कर स्पष्ट हो जायगा।

३—सोमप्रमुखाः पितरः← {
- १—**सोमः** विशुद्ध सोमः—विरल भावापन्नःप्राणमूर्त्तिर्ज्ञानमयो दिव्यः→**"ब्रह्मणस्पतिः"**
- २—यमः—-विरल भावापन्नः—प्राणमूर्त्तिः क्रियामयो दिव्यो वायुः→**"शुचिः"**
- ३—अग्निः विरल भावापन्नः—**प्राणमूर्त्तिरर्थमयो** दिव्योऽग्निः——→**"सावित्रः"**

} **सत्वविशालसर्ग-प्रवर्त्तकाः →नान्दीमुखाः पराः–पितरः**

—**—

२—वायुप्रमुखाः पितरः← {
- १—**यमः**—विशुद्ध वायुः—तरल भावापन्नः क्रियामूर्त्तिरान्तरिक्ष्यो वायुः→**"पावकः"**
- २—**सोमः**—तरल भावापन्नो वायुमूर्त्तिर्ज्ञानमयो—आन्तरिक्ष्यः सोमः→**"गन्धर्वः"**
- ३—अग्निः—तरल भावापन्नो **वायुमूर्त्तिरर्थमयः**—आन्तरिक्ष्यः अग्निः→**"नाक्षत्रिकः"**

} **रजोविशालसर्ग-प्रवर्त्तकाः →पार्वणाः मध्यमाः**

—❀—

३—अग्निमुखाः पितरः← {
- १—अग्निः—विशुद्ध अग्निः—घनभावापन्नोऽर्थमूर्त्तिः पार्थिवोऽग्निः→**"नाक्षत्रिकः"**
- २—यमः—घन भावापन्नः—अर्थमूर्त्तिः पार्थिवो वायुः————→**"पवमानः"**
- ३—सोमः—घन भावापन्नः—**अर्थमूर्त्तिः** पार्थिवः सोमः————→**"दिश्यः"**

} **तमोविशालसर्ग-प्रवर्त्तकाः →अश्रुमुखाः अवराः**

३←{ १—ब्रह्मणस्पतिः——→सोमः——→रेतः
२—शुचिः——→यमः——→रेतोधाः
३—सावित्रः——→अग्निः——→योनिः } →सौर सृष्टिः—"ज्ञानमयीसत्त्वप्रधाना:"

—※—

२←{ १—पावकः——→यमः——→रेतोधाः
२—गन्धर्वः——→सोमः——→रेतः
३—नाक्षत्रिकः——→अग्निः——→योनिः } –आन्तरिक्ष्य सृष्टिः–"क्रियामयीरजः प्रधानाः"

—※—

१←{ १—गायत्रः——→अग्निः——→योनिः
२—पवमानः——→यमः——→रेतोधाः
३—दिश्यः——→सोमः——→रेतः } →पार्थिव सृष्टिः—"अर्थमयीतमः प्रधानाः"

—※—

३←{ १—ब्रह्मणस्पतिः——→सोमः——→ज्ञानघनेनमनसानुगृहीतः (इच्छामूर्त्तिः)
२—शुचिः——→यमः——→क्रियाघनेन प्राणेनानुगृहीतः (तपोमूर्त्तिः)
३—सावित्रः——→अग्निः——→अर्थघनेन वाचानुगृहीतः (श्रममूर्त्तिः) } →ज्ञानमूर्त्तिः सोमः

—※—

२←{ १—पावकः——→यमः——→क्रियाघनेन प्राणेनानुगृहीतः (तपोमूर्त्तिः)
२—गन्धर्वः——→सोमः——→ज्ञानघनेन मनसानुगृहीतः (इच्छामूर्त्तिः)
३—धिष्ण्यः——→अग्निः——→अर्थघनया वाचानुगृहीतः (श्रममूर्त्तिः) } →क्रियामूर्त्तिः यमः

—※—

१→{ १—गायत्रः——→अग्निः——→अर्थघनया वाचानुगृहीतः (श्रममूर्त्तिः)
२—पवमानः→यमः——→क्रियाघनेन प्राणेनानुगृहीतः (तपोमूर्त्तिः)
३—दिश्यः——→सोमः——→ज्ञानघनेन मनसानुगृहीतः (इच्छामूर्त्तिः) } →अर्थमूर्त्तिः अग्निः

१—सोमविभूतिः

१ | सोमप्रधानः अग्नियमगर्भितः ||

१—**विरलसोमो** मनोमयो ज्ञानमूर्त्तिर्ब्रह्मणस्पतिः—दिव्यलोकस्थः

२—विरलयमः प्राणमयः क्रियामूर्त्तिः **शुचिः**—दिव्यलोकस्थः

३—विरलाग्निर्वाङ्मयोऽर्थमूर्त्तिः **सावित्रः**—दिव्यलोकस्थः

} सोममण्डलम् | —१—

—**—

२—यमविभूतिः

—❀—

३—अग्निर्विभूतिः

—**—

१—नान्दीमुखाः-नित्याः-दिव्यपितरः

नान्दीमुख पितृस्वरूप मीमांसा—

सौम्यप्राण को पितरप्राण बतलाया गया है, साथ ही में यह भी कहा गया है कि सौम्यप्राण की मूल प्रतिष्ठारूप सोम (भूत) द्युलोक में विशुद्ध रूप से (प्रातिस्विक रूप से) प्रतिष्ठित रहता है। सौम्यप्राणयुक्त (पितरप्राणयुक्त) सोम सबका अन्न बनता है। ऐसी अवस्था में सोमात्मक ये द्युलोकस्थ दिव्य पितर प्रधानरूप से **अन्नपितर** नाम से व्यवहृत होने लगते हैं। ये अन्नपितर आगे जा कर उष्ण-शीत-अनुष्णशीत इन तीन प्रकार के पदार्थों से खाए जाते हुए, इन विभिन्न तीन जाति के पदार्थों में आहुत

होते हुए क्रमशः **अग्निष्वात्ता–सोमसद्–बर्हिषद्** इन नामों से प्रसिद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार दिव्य-पितर सात के स्थान में सोमापेक्षया तीन ही रह जाते हैं। इन तीनों में भी अग्निष्वात्ता पितरों में अग्नि की प्रधानता, बर्हिषदा पितरों में यम की प्रधानता, एवं सोमसद् पितरों में सोम की प्रधानता है, परन्तु साथ ही में इस क्रम धारा के होते हुए भी पाठकों को यह नहीं भूलना चाहिए कि उक्त तीनों पितरों का मूलाधार सोम तत्त्व ही है। सोमसद् पितरों में आहुत होने वाला पदार्थ एवं जिसमें इसकी आहुति होती है, वह पदार्थ दोनों ही सोमप्रधान हैं अतएव अग्निष्वात्ता बर्हिषद् पितरों की अपेक्षा सोमसद् पितरों में आहुत होने वाला पदार्थ एवं जिसमें इसकी आहुति होती है, वह पदार्थ दोनों ही सोमप्रधान हैं अतएव अग्निष्वात्ता बर्हिषद् पितरों की अपेक्षा सोमसद् पितरों में सौम्यप्राण का पूर्ण विकास माना गया है, यही कारण है कि सोमसद् पितर (स्वमण्डली में) **राजा** पदवी से अलङ्कृत माने गए हैं। इन्हीं सोमसद् पितृप्रमुख सौम्य पितरों के लिए तत्तत् श्रौत स्मार्त्त पौराणिक स्थलों में **सोमषदः–सोमवन्तः–सौम्याः–सौम्यासः–सुभास्वराः** इत्यादि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इन सब शब्दों में अर्थ सम्बन्ध में प्रायः अभिन्नता ही समझनी चाहिए।

उपर्युक्त तीनों अन्नपितरों में से सोमसद् पितर **साध्य देवताओं** के प्रवर्त्तक बनते हुए "साध्यानां पितरः" (साध्यों के पितर) कहलाते हैं। ये साध्य पारमेष्ठ्य आप्य देवता हैं। देवघन सूर्य्य से ऊपर आपोमय परमेष्ठी में इन आपोमय सौम्य साध्य देवताओं का विकास होता है। आप्यप्राणप्रधान होने से ये पारमेष्ठ्य साध्य देवता ज्योतिर्घन इन्द्रप्रधान सौर देवताओं के विरोधी हैं। पारमेष्ठ्य होने से साध्य देवता "पूर्वदेवाः" नाम से प्रसिद्ध हैं, कारण सूर्य्य से पहिले परमेष्ठी का विकास हुआ है। परमेष्ठी के देवता विष्णु हैं। विष्णुप्रधान परमेष्ठीलोक ही "अपुनर्मार"–"अशोकमहिम"—नाक इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। विष्णु यज्ञमूर्त्ति है। इसी यज्ञ से आपोमय साध्य देवता पारमेष्ठ्य यज्ञ के प्रवर्त्तक बनते हैं। साध्य देवताओं के इसी वैज्ञानिक स्वरूप को लक्ष्य में रख कर ऋषि कहते हैं

"यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्म्माणिप्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ।।"

(यजु० सं० ३१।१६)

आप्यप्राणप्रधान होने से ही इन साध्य देवों के लिए अमरकार ने "पूर्व देवाः-सुरद्विषः" (अमरकोश १।१२) यह कहा है। यम प्रधान **बर्हिषद्** नाम के दूसरे सौम्य पितर देवयोनि रूप **देव–दानव–यक्ष–गन्धर्व–किन्नर–पिशाच–गुह्यक–सिद्ध–नाग–सुपर्ण–राक्षस** आदि वायव्य प्राण देवताओं के उत्पादक हैं एवं अग्नि प्रधान **अग्निष्वात्ता** नाम के तीसरे सौम्य पितर प्रधानरूप से मरुतादि प्राण देवताओं के पितर माने गए हैं।

उक्त तीनों पितरों का प्रतिष्ठास्थान **सनातन, वैभ्राज्य, सोमपाथ** नामों से प्रसिद्ध है। **सोमसद् पितरों** का लोक सनातन है, इसी को कहीं-कहीं **संतानक** नाम से भी व्यवहृत किया गया है। **बर्हिषद् पितरों** का लोक **सोमपथ** है, यही **सोमपद** नाम से भी प्रसिद्ध है एवं **अग्निष्वात्ता** पितरों का लोक **वैभ्राज** है। यही लोक कहीं-कहीं **विभ्राजमान** नाम से भी व्यवहृत हुआ है।

सोमसद् नाम के साध्यपितर (साध्यों के पितर) वैराज नाम से प्रसिद्ध हैं। इनकी अवान्तर विभूति गणना अनुपलब्ध है।बर्हिषद् नाम के देवयोनिपितर **मारीच** नाम से प्रसिद्ध हैं। इनकी विभूति संख्या ८६००० (छियासी हजार) है। अग्निष्वात्ता नाम के देवपितर **पौलस्त्य** नाम से प्रसिद्ध हैं। इनकी संख्या ६४००० (चौसठ हजार) सुनी जाती है।

उपर्युक्त तीनों पितरों के अग्नि–यम–सोम ये तीनों सहयोगी देवता कहलाते हैं। **अत्रि**[१]**–अङ्गिरा**[२]**–भृगु**[३] इन तीन ऋषिप्राणों के साथ कमशः जब **सोम**[१]**–अग्नि**[२]**–यम**[३] का सम्बन्ध होता है तभी उक्त तीनों पितरों की स्वरूप निष्पत्ति होती है। सोमतत्त्व का अत्रि के साथ समन्वय होने से सोमसद् पितर का स्वरूप निष्पन्न होता है। सोम अत्रि ऋषि के पुत्र माने गए हैं। अत्रि चन्द्रपिता (सोमपिता) नाम से प्रसिद्ध हैं "पिता सोमस्य वै विप्रा जज्ञेऽत्रिर्भगवानृषिः।" इन पितरों में अत्रि–सोम की प्रधानता के तारतम्य से स्वरूप–भेद हो जाता है। यदि अत्रि का भाग प्रधान रहता है तो **"सोमवद्भ्यः पितृभ्यः स्वधा"** बोलते हुए आहुति दी जाती है। अत्रि एवं सोम दोनों समान सममात्रा में रहते हैं तो–**"सोमाय पितृमते स्वधा"** यह प्रयोग होता हैं। यदि सोम की प्रधानता रहती है तो **"सोमाय पितृपीताय स्वधा"** यह वाक्य प्रयुक्त होता है।

यम देवता का अङ्गिरा ऋषि के साथ सम्बन्ध माना गया है। अङ्गिरा की प्रधानता में यह यम अङ्गिरा नाम से व्यवहृत होता है अङ्गिरा एवं यम दोनों की समानता में वही यम **अङ्गिरस्वान्** कहलाने लगता है। यदि दोनों में से यम की प्रधानता हो जाती है तो वही यम **"अङ्गिरसांपतिः"** इस वाक्य से व्यवहृत होने लगता है।

तीसरे भृगुप्राण के साथ अग्नि का समन्वय माना गया है। यही भृगुप्राण **कवि** नाम से प्रसिद्ध हैं। इसी का प्रत्यंश **कव्य** कहलाता है एतद्युक्त यह अग्नि "**कव्यं वहति**" इन निर्वचन के अनुसार **कव्यवाद्** नाम से ही व्यवहृत होगा। इस प्रकार **"यमोऽङ्गिराः"–"यमोङ्गिरस्वान्"–"सोमपितृपीतः"** तीनों देवता अभिन्नार्थक हैं।

ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में अग्नि और सोम का अङ्गिरा ऋषि के साथ सम्बन्ध बतलाया गया है। आगे जा कर कहा गया है कि इन तीनों में से अग्नि एवं सोम के लिए **स्वधाकार** करना चाहिए (आहुति देनी चाहिए) एवं तद्गत अङ्गिरा ऋषि के लिए केवल नमस्कार करना चाहिए। परन्तु वस्तु स्थिति के देखने से पुराण का उक्त मत सङ्गत प्रतीत नहीं होता। तीनों एक रूप में ही परिणत रहते हैं, ऐसी अवस्था में तदर्थकृत स्वधा-नमस्कार दोनों कर्म्मों का तीनों के ही साथ सम्बन्ध मानना न्यायसङ्गत प्रतीत होता है। यही कारण है कि ब्रह्मपुराण को छोड़ कर अन्यत्र कहीं भी पूर्वोक्त मत का उल्लेख नहीं मिलता। जैसा कि पूर्व में कई बार बतलाया जा चुका है कि तीनों पितरों के साथ क्रमशः अग्नि–यम–सोम देवताओं का सम्बन्ध होता है। यही कारण है कि **"पितृश्राद्ध"** नाम से प्रसिद्ध श्रौत **पिण्डपितृ यज्ञ में हवि** द्वारा पहिले इन अग्नि-यमादि पितर देवताओं (पितरों के देवताओं) को आप्यायित किया जाता है, अनन्तर तद्रक्षित

अग्निष्वात्तादि पितरों को **स्वधा** द्रव्य से **तृप्त** किया जाता है। **"सोमायपितृमते"** इस वाक्य से सोम-ज्येष्ठ, अतएव सोममय सोमसदा पितरों को तृप्त किया जाता है। **"यमायाङ्गिरस्वते"** इस वाक्य से यमज्येष्ठ, अतएव **बर्हिषद्** पितरों को तृप्त किया जाता है एवं **"अग्नये काव्यवाहनाय"** इस वाक्य से अग्निज्येष्ठ, अतएव अग्निमय **अग्निष्वात्ता** पितरों को तृप्त किया जाता है। इस देवक्रम से **श्राद्ध देवता** नाम से प्रसिद्ध अग्निप्रमुख वसु, यमप्रमुख **रुद्र**, सोमप्रमुख **आदित्य** नाम के गण देवता भी तृप्त हो जाते हैं।

पूर्व प्रकरण से यद्यपि **आग्नेय** (अग्निष्वात्ता), **सौम्य** (सोमसद्), **याम्य** (बर्हिषद्) इस क्रम से पितरों के तीन भेद सिद्ध होते हैं, परन्तु **'तन्मध्यपतित'** न्याय से मध्यस्थ यमपितर का दोनों में ही अन्तर्भाव मान लिया जाता है। ऐसी परिस्थिति में पितृप्रकरण के सम्बन्ध में अग्नि–सोम की ही प्रधानता रह जाती है। इस स्थिति को प्रधान मानने से निम्नलिखित पितृविषयक सारे विसंवादों का समन्वय हो जाता है।

वायु पुराण के अनुसार अग्नि ही प्रधान पितर है। अन्यत्र अप् (सोम) तत्त्व को ही पितर माना गया है। "**तपोमय त्रैलोक्य में सर्वप्रथम प्रजापति ने अप् तत्त्व उत्पन्न किया। वे पानी ही स्वयंभू ब्रह्मा के पुत्र, एवं उत्तर में होने वाले देवतादि के पितर कहलाए**" यही वहाँ निर्दिष्ट है। स्वयंभू ब्रह्मा वाङ्मय हैं। यही वाङ्भाग "**सोऽपोऽ सृजत वाच एव लोकात्**" (शत. ६।१।१।६) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार परमेष्ठी रूप में परिणत होता है। यही अप्तत्त्व (किंवाभृगु तत्त्व) पितर है। वाक् इसकी मूल जननी है। इसी आधार पर "**पितरोवाक्यमिच्छंति**" यह कहा गया है।

"**विष्णु भगवान वराह रूप धारण कर आपोमय समुद्र में से डूबते हुए भूपिण्ड को अपनी दंष्ट्रा पर उठाकर उसका उद्धार करते हैं। यह मृतपिण्ड पितर नाम से प्रसिद्ध है**" इत्यादि रूप से महाभारत ने भूपिण्ड को पितर माना है। कारण स्पष्ट है। दिक्सोम एवं गायत्रअग्नि की समुच्चितावस्था ही भूपिण्ड है, एवं अग्नि–सोम ही पितर की प्रतिष्ठा है। "**प्रजापति के शरीर से रूप–रस–गन्ध–स्पर्श–शब्द नाम की पाँच तन्मात्राएँ उत्पन्न हुई। वे ही आकाश में इतस्ततः विचरती हुई पितर नाम से प्रसिद्ध हुई।**" यह वराह पुराण का सिद्धान्त है। उक्त पञ्चतन्मात्राएँ सर्वप्रथम **सरस्वान्** नाम के पारमेष्ठ्य समुद्र में ही प्रादुर्भूत होती हैं। **प्राण–आप–वाक्–अन्न–अन्नादरूपक्षर** प्रजापति का शरीर है। इसी से **गुणभूत** नाम से प्रसिद्ध रूपरसादि पञ्चतन्मात्राएँ उत्पन्न हुई हैं। परमेष्ठी के सम्बन्ध से (सोममय होने से) इन्हें भी पितर शब्द से सम्बोधित किया जा सकता हैं।

उपर्युक्त अवान्तर सर्वविध पितरों का अन्ततोगत्वा अग्नि–सोम में ही पर्य्यवसान हो जाता है। उपर्य्युक्त तीनों पितरों को हमने विरलावस्थापन्न बतलाया है। विरलता प्राण का धर्म्म है। प्राण अमूर्त्त तत्त्व है अतएव इन पितरों को हम अवश्य ही "**अमूर्त्त**" शब्द से व्यवहृत कर सकते हैं। विधर्त्ता प्राणात्मक यही पितर त्रैलोक्य को धारण करते हैं। अतएव इन तीनों नान्दीमुखपितरों को "**धर्म्ममूर्त्ति**" भी माना जाता है। इनका नान्दीमुखत्व प्रकरण के आरम्भ में ही बतलाया जा चुका है।

नान्दीमुखा द्विधा: परा: पितरस्त्रय:

1—सोमसद:——→सोमेनेजानानाम्——————→सनातन लोका: परा: पितर:
2—बर्हिषद:——→पक्वेनदत्तेनलोकजयिनाम्———→सोमपथलोका: मध्यमा: पितर:
3—अग्निष्वाता:——→अयाजिनामग्निदग्धानाम्———→वैभाजलोका: अवरा: पितर:

—**—

	दिश:	देवा:	ऋषय:	पितर:	लोका:	जनका:	जन्या:	संख्याता:
१	उत्तरा	सोम:	अत्रि:	सोमसद:	सनातना:	साध्यानाम्	वैराजा:	....
२	अन्तरा	यम:	अङ्गिरा:	बर्हिषद:	सोमपथा:	देवयोनीनाम्	मारीचा:	८६०००
३	दक्षिणा	अग्नि:	भृगु:	अग्निष्वात्ता:	वैभ्राजा:	देवानाम्	पौलस्त्या:	६४०००

त इमे नान्दीमुखा:, धर्म्ममूर्त्तय:, अमूर्त्तास्त्रय: सप्त वा दिव्यपितर: संक्षेपेण व्याख्याता द्रष्टव्या:

२—पार्वणा:—नित्या:—अधिकारिका:—आन्तरिक्ष्या:—

पार्वण पितृस्वरूप मीमांसा—

ऋतुपितर विज्ञानोपनिषत् में दिव्यपितरों की तरह पार्वण पितरों को भी अग्निष्वात्ता सोमसदादि अवान्तर सात अवस्थाएँ बतलाई गई हैं। वस्तुत: इनके तीन ही मुख्य भेद समझने चाहिए। कहीं कहीं **सुकाली** पितर के समन्वय से ये चार प्रकार के हो जाते हैं। ये चारों पितर ऋतुपर्वों से सम्बन्ध रखने के कारण **पार्वण** पितर नाम से प्रसिद्ध हैं। **हविर्भुक्—आज्यपा—सोमपा—सुकाली** ये ही पार्वण पितर हैं। **हविर्भुक्** पितरों का **ग्रीष्मऋतु** के साथ सम्बन्ध है। आज्यपा पितरों का **वर्षाऋतु** से सम्बन्ध है। **सोमपा** पितरों का **शीतर्त्तु** के साथ सम्बन्ध है। नान्दीमुख पितरों की तरह इन तीनों पितरों के अनुग्राहक भी **अग्नि—यम—सोम** ही हैं। ये पितर अन्तरिक्षलोक को अपनी मूल प्रतिष्ठा बनाते हुए तिर्य्यङ्मुख रहते हैं।

ये **घनभाव के मूर्त्तिमान** माने जाते हैं । इनके शरीर होता है । ये ही देवयोनिविशेष हैं । इनके पैर नहीं होते हैं । ये चन्द्रमा के प्रकाश में ही रह सकते हैं । सौर प्रकाश में ये दग्ध हो जाते हैं । इन तीनों में से **सोमपा** नाम के सौम्यपितर **"सोमवन्त"**.**"सौम्यः"** **"काव्याः"** **"काव्यदाः"** इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध हैं । यह ध्यान रखना चाहिए कि दिव्य सात पितरों में भी सोमपा नाम के पितर हैं एवं इन आन्तरिक्ष्य पार्वण पितरों में भी सोमपा पितर हैं । एक **वैराज** हैं, दूसरे **काव्य** हैं । इनमें वैराज सोमपा पितर नान्दी-मुख हैं, एवं ये आन्तरिक्ष्य सोमपा पितर काव्य हैं । इन आन्तरिक्ष्य सोमपा पितरों का अवस्थान स्थान आन्तरिक्ष्य वायव्य विद्युत्-तेज के सम्बन्ध से **"ज्योतिर्भासाः"** नाम से प्रसिद्ध है । लोक संज्ञा के आधार पर ही इन्हें यत्र--तत्र प्रकरणों में **"ज्योतिर्भासाः"** नाम से भी व्यवहृत किया जाता है ।

दूसरे हैं **हविर्भुक्** नाम के आन्तरिक्ष्य पितर । इनका ग्रीष्मऋतु पर्व से सम्बन्ध है । **"हविर्भुजः"** **"हविष्मन्तः"** दोनों शब्द अभिन्नार्थक हैं । हवि--ग्रहणार्थ इनका आह्वान किया जाता है, अतएव इन्हें **"उपहूताः"** भी कहा जाता है । **अङ्गिराप्राण** इनका प्रभव है । इनके लोक आन्तरिक्ष्य **मरीचि** पानी के सम्बन्ध से **"मारीचाः"** नाम से प्रसिद्ध हैं । इन्हीं लोकों को मरीचि नाम की सौर आन्तरिक्ष्य रश्मियों के गर्भ में रहने के कारण "मरीचिगर्भाः" नाम से व्यवहृत किया जाता है ।

तीसरे अन्तरिक्ष्य ऋतुपितर **"आज्यपाः"** नाम से प्रसिद्ध हैं । ये ही **सुस्वधा** नाम से भी व्यवहृत किए जाते हैं । पुलस्त्यप्राण इनका आरम्भक है, अतएव इन्हें "पौलस्त्य" कहा जाता है । कितने ही आचार्यों के मतानुसार इनका उपादान कारण पुलस्त्यप्राण से प्रादुर्भूत होने वाला **कर्द्दमप्राण** है । इस मत की अपेक्षा से **कार्द्दम** शब्द से भी व्यवहृत किया जाता है । **"तेजो वै घृतम्"** (तै०सं० २।२६।६) "घृतमन्तरिक्षस्य....." (शत० ७।५।१।३) इत्यादि श्रौतप्रमाणों के अनुसार ये अन्तरिक्ष्य ऋतुपितर तेजोमूर्त्ति घृतमय अन्तरिक्ष के सम्बन्ध से **"तेजस्विनः"** नाम से प्रसिद्ध हैं ।

चौथे हैं **सुकाली** पितर इन्हें कहीं कहीं **सुकाला** नाम से भी व्यवहृत किया जाता है । इनका आरम्भक **वसिष्ठप्राण** है, अतएव इन्हें **"वासिष्ठ"** कहा जाता है । मनोमय प्रजापति के इनके लोक **'मानस'** नाम से **प्रसिद्ध** हैं ।

उपर्युक्त आन्तरिक्ष्य चारों पार्वण पितर क्रमशः **ब्रह्म क्षत्र विट् पौष्ण** वीर्य्यों के प्रवर्त्तक हैं । स्थावर जङ्गमात्मक विश्व प्रपञ्च में **अग्निप्रधान** आग्नेय पदार्थ **ब्राह्मण** हैं । **इन्द्र प्रधान ऐन्द्र** पदार्थ **क्षत्रिय** हैं । **विश्वेदेव प्रधान वैश्वदेव** पदार्थ **वैश्य** हैं । **पूषा** देवताप्रधान **पौष्ण** पदार्थ **शूद्र** हैं । **अग्नि इन्द्र मरुत् पूषा** के समन्वय से उक्त चारों पितर चारों वर्णों के प्रवर्त्तक बनते हैं । अग्नि से युक्त **सोमपितर** ब्राह्मणवर्ण के, इन्द्र से युक्त **हविभुक्** पितर क्षत्रियवर्ण के मरुत् (विश्वेदेव) से युक्त **आज्यपापितर** वैश्यवर्ण के तथा पूषाप्राण से युक्त **सुकालीपितर** शूद्रवर्ण के अधिष्ठाता हैं ।

प्रत्येक पदार्थ में भी उक्त चारों वर्णों का भाग होता है । कारण यही है कि प्रत्येक के उपादान ये चारों बनते है, अतएव "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहूराजन्यः" (ऋक्० १०।६०।१२) के अनुसार प्रत्येक

❀**पुरुष** के साथ चारों वर्णों का सम्बन्ध माना गया है। यह सब कुछ होने पर भी **वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्-वाद:"** इस न्याय के अनुसार जिस पदार्थ में जो पितर प्रधान होता है वह उसी वर्ण के नाम से व्यवहृत होता है। इसी आधार पर पशुओं में **अज** (बकरा) ब्राह्मण कहलाता है, **मेष** (मेंढा) क्षत्रिय कहलाता है **गौ** वैश्य कहलाता है एवं **अश्व** शूद्र कहलाता है। इस प्रकार तत्तद्देवता ♀प्राणभेद से ये पितर देवता पदार्थ मात्र के उपादान बन जाते हैं।

सोमग्राही पितर **सोमपा** कहलाते हैं, **हवि** ग्रहण करने वाले पितर हविर्भुक् कहलाते हैं, **आज्य** ग्रहण करने वाले पितर "**आज्यपा**" नाम से प्रसिद्ध हैं। आज्य एवं सोम दोनों तरल द्रव्य हैं। इनका पान ही सम्भव है, अतएव तत्पानकर्त्ता दोनों पितर क्रमशः आज्यपा–सोमपा नाम से व्यवहृत हुए हैं। हविपदार्थ घन द्रव्य है। इसमें भोजन व्यवहार लोकसिद्ध है, अतएव तद्भोक्ता पितर हविर्भुक् नाम से सम्बोधित किए गए हैं।

जो द्रव-द्रव्य अग्नि-संयोग से जल उठते हैं, दूसरे शब्दों में जो तरल पदार्थ अग्नि सम्बन्ध से ज्वालारूप में परिणत हो जाते हैं, वे सब पदार्थ (घृत–तैल–मदिरा आदि) परिभाषानुसार "**आज्य**" नाम से प्रसिद्ध हैं। ऐसे द्रव–द्रव्य जो कि (आप्यप्राण प्रधान वरुण के कारण) अग्नि के संयोग से ज्वाला रूप में परिणत नहीं होते, वे सब पदार्थ (दुग्ध आदि) सोम (आप्यसोम किंवा वरुण सोम) नाम से व्यवहृत हुए हैं। कहना यही है कि सोम द्रव्य से आप्यायित होने वाले पितर **सोमपा**, आज्य द्रव्य से आप्यायित होने वाले पितर **आज्यपा** एवं हविर्द्रव्य से तृप्त होने वाले पितर **हविर्भुक्** नाम से प्रसिद्ध हैं, परन्तु जो पितर किसी भी द्रव्य का **स्वधा** सम्बन्ध से ग्रहण नहीं करते अपितु केवल **स्वाहा** सम्बन्ध से पदार्थों के साथ बहिर्याम रूप से सम्बन्ध कर विमुक्त हो जाते हैं, वे पितर "**सुकाली**" नाम से प्रसिद्ध हैं। अग्नि–यम–सोमात्मक वसु–रुद्र–आदित्य ही उक्त पितरों के अभिमानी देवता हैं जैसा कि प्रकरण के आरम्भ में ही बतलाया जा चुका है। ऋतुपितर के आन्तरिक्ष्य पार्वणपितरों का यही संक्षिप्त स्वरूप निदर्शन है।

	दिशः	देवाः	ऋषयः	पितरः	लोकाः	जनकाः	जन्याः	विभूतयः
१	उत्तराः	अग्निः	कविः	सोमपाः	ज्योतिर्भासाः	आग्नेयानाम्	ब्राह्मणानाम्	काव्याः
२	मध्यमाः	मरुतः	पुलस्त्यः	आज्यपाः	मारीचाः	वैश्वदेवानाम्	वैश्यानाम्	पौलस्त्याः
३	दक्षिणाः	इन्द्रः	अङ्गिराः	हविर्भुजः	तेजस्विनः	ऐन्द्राणाम्	क्षत्रियाणाम्	पौलहाः
४	सर्वाः	पूषाः	वसिष्ठः	सुकालिनः	मानसाः	पौष्णानाम्	शूद्राणाम्	वसिष्ठाः

त इमे पार्वणाः, वर्ण प्रवर्त्तकाः, अमूर्त्ताः चत्वारः सप्त वा ऋतुपितरः पार्वणाख्याः–आन्तरिक्ष्याः संक्षेपेण निरूपिता द्रष्टव्या :

❀"**पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतंयच्च भाव्यम्**" (ऋक्० १०।९०।२) के अनुसार मायापुर से वेष्टित प्रत्येक पदार्थ पुरुष शब्द से व्यवहृत हुआ है।

♀इस प्राकृतिक वर्ण व्यवस्था का विशद वैज्ञानिक विवेचन "**वेदेषु धर्म्मभेद:**" नाम के संस्कृत निबन्ध में देखना चाहिए। यह निबन्ध प्रकाशित हो गया है।

—३ प्रेतपितरः–पार्थिवाः–अश्रुमुखाः—

अश्रुमुख पितर स्वरूप मीमांसा—

तीसरे हैं **अश्रुमुख** नामक पार्थिव **प्रेतपितर**। ये प्रेतपितर गायत्रप्राणगर्भित पूषाप्राणप्रधान हैं। प्रधानतः **सुकाली** ही पार्थिव पितर हैं, परन्तु अग्नि–यम–सोम के सम्बन्ध से यहाँ भी सात पितर हो जाते है, जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है। इस प्रकार तत्तत् अधिकारों में नियत, अतएव अधिकारिक नाम से प्रसिद्ध पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ भेद से त्रैधाविभक्त **प्रेत–ऋतु–दिव्य** पितर त्रैलोक्य में व्याप्त हैं।

"जायमानो वै जायते सर्वाभ्यो एताभ्यो एव देवताभ्यः" इस सिद्धान्त के अनुसार उत्पन्न होने वाली पार्थिव प्रजा में त्रैलोक्य के पितर देवता उपादान रूप से प्रविष्ट होते हैं, परन्तु इन पार्थिव प्रजाओं में पृथिवीप्राण की प्रधानता है अतः इनमें पार्थिव प्रेत पितर ही प्रधान रहते हैं।

प्रेत पितृस्वरूप परिचय—

शरीर अवसान के अनन्तर यह आध्यात्मिक प्रेत पितर तत्तत् कर्म्म विशेषों से तत्तत् प्राकृतिक पितरों के साथ युक्त होते हुए तत्तत् प्राकृतिक पितरों के नाम से व्यवहृत होने लगते हैं। शरीर से निकले बाद ये प्रेत पितर कुछ काल तक त्रिवृत्स्तोमोपलक्षित पार्थिव मण्डल में परिभ्रमण करते हैं। यहाँ इनमें पार्थिव आकर्षण की प्रधानता रहती है, अतएव यहाँ इस स्थिति में ये दुखी रहते हुए **"अश्रुमुख"** नाम से प्रसिद्ध होते हैं। यही प्रेतपितरों की पहली अवस्था है आगे अन्तरिक्ष में जा कर तद्गत नित्य अधिकारिक पार्वण पितरों से युक्त होते हुए, तद्भावापन्न होते हुए ये भी **पार्वणपितर** नाम से ही प्रसिद्ध हो जाते हैं। यही शारीर पितर दिव्यलोक में जाकर, तद्गत नित्य आधिकारिक दिव्य पितरों के साथ सहयोग करते हुए, तद्भावापन्न होते हुए **"नान्दीमुख"** नाम से प्रसिद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार अधिकारिक नित्य पितरों के संयोग से इन कार्म्मिक, अनित्य शारीर (आध्यात्मिक) पितरों की भी तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं। इसी अभिप्राय को प्रकट करता हुआ वायु पुराण कहता है—

> **"ब्रह्मचर्य्येण तपसा यज्ञेन प्रजया तथा।**
> **श्रद्धया प्रज्ञया चैव प्रदानेन च सप्तधा ॥१॥**
> **कर्म्मस्वेतेषु ये युक्ता भवन्त्यादेहपातनात्।**
> **देवैस्तैः पितृभिः सार्द्धं मोदन्ते सोमपाज्यपैः" ॥२॥ इति**

प्रकरणोपसंहार—

"ये वै केचन अस्माल्लोकात् प्रयन्ति, चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति" इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार पृथिवी लोकस्थ भूतात्मा भौतिकशरीरत्यागानन्तर गन्धर्वशरीर (वायुमय शरीर) धारण करके १३ नाक्षत्रिक महीनों की अवधि में चन्द्रलोक में पहुँचते हैं। ये ही **प्रेतपितर** हैं। आरम्भ की **सुकाली**[१]–**हविर्भुक्**[२]–**आज्यपा**[३]–**सोमपा**[४] ये चार अवस्थाएँ स्थूल हैं, मूर्त्त

हैं। इन्हीं के लिए "**लेपभाजश्चतुर्थाद्याः**" यह कहा जाता है। सोमसद्–बर्हिषद्–अग्निष्वात्ता भेदभिन्न तीन नान्दीमुख पितर अमूर्त्त होने से लेपभाक् हैं। इस अवस्था में इनके प्रेतभाव की निवृत्ति है।

उपर्युक्त अवस्थाएँ **सद्गति** से सम्बन्ध रखती हैं। ठीक इसके विपरीत **कुकर्म्मा** (कुसंकारी) प्रेतात्मा (प्रेतपितर) **दुर्गति** भाव से युक्त होते हुए, चान्द्र संस्था से वञ्चित होते हुए कुत्सित योनि विशेषों में नाना रूप धारण करते हुए इतस्ततः घूमा करते हैं। आगे जा कर पाँच तिर्य्यग् योनियों में आते हुए ये ही अन्ततोगत्वा **धातुजीव** नाम से प्रसिद्ध स्थावर योनियों के बन्धन से सदा के लिए बद्ध हो जाते हैं। ये ही त्रिविध प्रेत-पितर "**कर्म्मपितर**" नाम से प्रसिद्ध हैं। **श्रौतकर्म्म** (पिण्डपितृयज्ञादि) में नित्य आधिकारिक पितरों की प्रधानता है, एवं इन कर्म्म पितरों का प्रधान सम्बन्ध **स्मार्तकर्म्म** से है। इन्हीं के लिए **पिण्डदान–अञ्जलिदानादि** लक्षण **श्राद्धकर्म्म** का विधान है। श्रौतपितृकर्म्म "**प्रेतकर्म्म**" **किंवा अशुभलक्षण कर्म्म**" है। श्राद्ध सम्बन्धी इन्हीं त्रिविध प्रेतपितरों का दिग्दर्शन कराता हुआ प्रमाणान्तर कहता है—

पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः।
त्रयोह्यश्रुमुखा ह्येते पितरः परिकीर्त्तिताः॥१॥
तेभ्यः पूर्वतरा ये च प्रजावन्तः सुखोचिताः।
ते तु नान्दीमुखा नान्दी समृद्धिरिति कत्थते॥२॥ (ब्रह्म पुराण)

ये स्युर्पितामहाद्रूर्ध्वं ते स्युर्नान्दीमुखाः

पितरस्वरूपविज्ञानोपनिषत् समाप्त हुई। अब क्रमप्राप्त **सापिण्डविज्ञानोपनिषत्** की ओर श्रद्धालु पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

इति—पितरस्वरूपविज्ञानोपनिषदि प्रेतपितरविज्ञानोपनिषत् समाप्ता

इति—श्राद्धविज्ञाने पितरस्वरूपविज्ञानोपनिषत् समाप्ता

– २ –